वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 286

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की

अमृतवाणी

– प्रस्तुतकर्त्री –

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी

शरदपूर्णिमा महोत्सव, 11 अक्टूबर 2011 को जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में
पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा घोषित
''प्रथम पट्टाचार्य श्री वीरसागर वर्ष'' के अन्तर्गत प्रकाशित

-प्रकाशक-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान

जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

फोन नं.- (01233) 280184, 280994

Website : www.jambudweep.org

E-mail : jambudweeptirth@gmail.com

द्वितीय संस्करण	वीर नि. सं. 2538, माघ कृ. 14	मूल्य
2200 प्रतियाँ	22 जनवरी 2012	24/-रु.

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएं भी प्रकाशित होती रहती हैं।

-: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :-

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

-: मार्गदर्शन :-

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी

-: निर्देशक एवं सम्पादक :-

स्वस्तिश्री कर्मयोगी पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति स्वामी जी

-: प्रबंध सम्पादक :-

जीवन प्रकाश जैन

प्रथम संस्करण-2008-प्रतियाँ 2200

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क

जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

सम्पादकीय

–स्वस्तिश्री कर्मयोगी पीठाधीश
रवीन्द्रकीर्ति स्वामी जी

प्रस्तुत पुस्तक जो आपके हाथ में है, इसका नाम है-''पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी की अमृतवाणी''। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें पूज्य ज्ञानमती माताजी के ज्ञानामृतरूपी प्रवचनों का संग्रह है। भक्तों की विशेष इच्छा को ध्यान में रखते हुए प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी ने इस पुस्तक को तैयार किया है तथा हमें वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला से इसका प्रकाशन करवाकर प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

आज भारत में शायद ही कोई ऐसा जैन परिवार हो, जो ज्ञानमती माताजी के नाम को न जानता हो। हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप रचना, तेरहद्वीप रचना, प्रयाग में तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली नामक भव्य तीर्थ का निर्माण, भगवान महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर में अतुलनीय नंद्यावर्त महल का निर्माण, अयोध्या तीर्थ का विकास, मांगीतुंगी तीर्थ का विकास एवं वहाँ तुंगी पर्वत पर भगवान ऋषभदेव की 108 फुट ऊँची प्रतिमा निर्माण की प्रेरणा आदि अनेकों ऐसे अनुपम कार्यकलाप पूज्य माताजी की प्रेरणा से हुए हैं, जिनके द्वारा समय-समय पर जैन समाज में एक नवीन क्रान्ति का संचार होता रहता है। जो लोग इन तीर्थ निर्माणों को नहीं भी जानते होंगे, वे पूज्य माताजी के द्वारा लिखित साहित्य के द्वारा उनके प्रति नतमस्तक होते हैं और तो और, अब तो आस्था चैनल पर पूज्य माताजी के मंगल प्रवचनों के माध्यम से तो लाखों-करोड़ों लोग प्रतिदिन पूज्य ज्ञानमती माताजी का दर्शन-वंदन करते ही हैं।

ऐसी विश्ववंद्य पूज्य माताजी के अगाधज्ञान का कुछ अंश हमें उनके प्रवचनों के द्वारा प्राप्त हो जाता है, यह हमारे लिए विशेष पुण्य की बात है।

आप सभी पाठकगण इस पुस्तक को पढ़कर अपने ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि करें तथा अपने जीवन में कुछ न कुछ शिक्षा अवश्य ग्रहण करें, यही इसकी सार्थकता होगी।

G G G G G

प्रस्तावना

–ब्र. कु. सारिका जैन (संघस्थ)

व्यक्ति के मन में जो भी विचार आते हैं उनको अभिव्यक्त करने के दो सरल तरीके होते हैं – एक तो वक्तृत्व – बोलना और दूसरा लेखन – लिखना। संसार में प्रचलित अनेक कलाओं में वक्तृत्व और लेखन भी कलाओं की श्रेणी में आते हैं। बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो लेखनी के द्वारा तो अपने विचारों की सुन्दर प्रस्तुति कर लेते हैं परन्तु उनके पास वक्तृत्व गुण नहीं है, इसके विपरीत कई लोग ऐसे भी हैं जो घंटों प्रवचन/भाषण तो कर लेते हैं परन्तु उनके द्वारा लेखनी नहीं चल पाती।

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी एक ऐसी महान व्यक्तित्व हैं जो कई घंटों तक धाराप्रवाह आगम के अनुकूल प्रवचन करने की क्षमता रखती हैं तथा जिन्होंने अपनी लेखनी से एक, दो, नहीं अपितु ढाई सौ से अधिक ग्रंथों की रचना करके एक महान अतिशायि कार्य किया है।

पिछले कई वर्षों से पूरे देश की जनता आस्था चैनल पर पूज्य माताजी के मंगल प्रवचनों का रसास्वादन कर प्रसन्नता का अनुभव कर रही है। द्रव्यसंग्रह, जैन रामायण, तत्त्वार्थसूत्र आदि अनेक शास्त्रीय प्रवचनों को घर बैठे सुनकर भाक्तिकजन फूले नहीं समाते हैं।

काफी दिनों से लोगों की यह मांग थी कि पूज्य माताजी के प्रवचनों को पुस्तक का आकार प्रदान करके प्रकाशित कराया जाये अतः प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी ने पूज्य माताजी के द्वारा किये गये कुछ सरल प्रवचनों को इसमें संकलित किया है, जिससे कि जैन के साथ ही जैनेतर बंधु भी इसको पढ़कर जैनधर्म के मर्म को समझ सकें।

ज्ञातव्य है कि इससे पूर्व भी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी ने पूज्य माताजी के 81 प्रवचनों का संकलन करके ''अमूल्य प्रवचन'' नामक एक पुस्तक समाज को प्रदान की थी, जो कि सभी के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है।

''पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी की अमृतवाणी'' नामक इस पुस्तक में उनके 25 प्रवचनों का अनुपम संग्रह है इसमें सरल से सरल प्रवचनों को संग्रहीत करते हुए यह प्रयास किया गया है कि प्रत्येक प्रवचन को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाए कि पाठकगण जैनधर्म से संबंधित अनेक जानकारियाँ प्राप्त करने के साथ ही साथ इनसे कुछ न कुछ शिक्षा भी अवश्य ग्रहण करें।

प्रवचन अर्थात् प्र– उत्कृष्ट, वचन – शब्द, वाणी.....तो उत्कृष्ट वाणी अथवा उत्कृष्ट शब्दों को कहते हैं प्रवचन।

वर्तमान में पंचमकाल है, तीर्थंकरों का जन्म होता नहीं है, उनके समवसरण, उनकी दिव्यध्वनि का लाभ हमें प्राप्त होता नहीं है कि जो तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि का अमृतपान करके हम अपने जीवन को कृतार्थ कर सकें, ऐसे इस दुःषमकाल में भी हमारे विशेष पुण्योदय से हमें साधु-सन्तों के दर्शन करने का, उनके मंगलमयी प्रवचनों को सुनने का सुनहरा अवसर प्राप्त होता रहता है।

साधु-संतों के प्रवचनों को सुनकर कई भव्यप्राणी अपनी आत्मा का उद्धार कर लेते हैं इनके अनेकों उदाहरण शास्त्रों में हैं, जैसे-मृगसेन धीवर ने मुनिराज का उपदेश सुनकर, जाल में आने वाली पहली मछली को जीवनदान देने का नियम ले लिया, जिसके प्रभाव से अगले भव में पाँच बार उसकी जीवनरक्षा हुई। एक सियार ने मुनिराज के उपदेश से प्रभावित होकर उनसे रात्रिभोजन त्याग का नियम ले लिया, जिसके प्रभाव से वह स्वर्ग में देव हो गया।

यमपाल चाण्डाल ने मुनिराज के प्रवचन सुनकर अष्टमी-चतुर्दशी को हिंसा करने का त्याग कर दिया, जिसके प्रभाव से देवों ने आकर उसकी पूजा की तथा पुरुरवा नामक एक भील ने मुनिराज के उपदेश से प्रभावित होकर मद्य-माँस-मधु का त्याग कर दिया, जिसके प्रभाव से वह स्वर्ग में देव हुआ। कालान्तर में यही जीव भगवान महावीर हुआ। और तो और, मुनियों और आर्यिकाओं के क्षणमात्र के सम्बोधन को सुनकर अनेक बालक-बालिकाएँ वैराग्यभाव धारण करके मुनि-आर्यिका की दीक्षा लेकर अपनी आत्मा का कल्याण तक कर लेते हैं। इसके भी अनेकों महिमाशाली कथानक हैं।

स्वाध्याय के पाँच भेदों में धर्मोपदेश को भी स्वाध्याय का एक अंग कहा गया है।

इस प्रकार प्रवचनों की महिमा को जानकर आप सभी पाठकगण इन प्रवचनों को पढ़कर अपने जीवन को सुसंस्कारित करें, यही मंगलकामना है।

G G G G G

हस्तिनापुर में निर्मित विश्व प्रसिद्ध जम्बूद्वीप रचना तथा स्वर्णिम तेरहद्वीप रचना निर्माण की प्रेरणास्रोत गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि

श्री ज्ञानमती माताजी का संक्षिप्त परिचय

लेखिका-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चंदनामती

भारत की वसुन्धरा सदैव से तपस्या, त्याग एवं संयम की भूमि रही है। भगवान ऋषभदेव, राम, महावीर की यह भूमि आज भी ऐसे महान व्यक्तित्वों से सुशोभित है कि जो अपने जीवन में ही ऐतिहासिक बन जाते हैं।

ऐसा ही एक महान व्यक्तित्व है – वर्तमान दिगम्बर जैन समाज की सबसे प्राचीन दीक्षित साध्वी-पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी। सन् 1934 में शरदपूर्णिमा के दिन जिला बाराबंकी (उ.प्र.) के टिकैतनगर ग्राम में माता मोहिनी एवं पिता श्री छोटेलाल जैन के दाम्पत्य जीवन के प्रथम पुष्प के रूप में कन्यारत्न 'मैना' का जन्म हुआ। छोटी-सी आयु से ही अपनी माँ की प्रेरणावश जैन ग्रंथों के स्वाध्याय द्वारा इस बालिका ने अपने वैराग्य को भलीभाँति दृढ़ कर लिया और 18 वर्ष की अल्प आयु में शरदपूर्णिमा के दिन ही परिवार के प्रबल विरोध के बावजूद भी आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत एवं गृहत्याग के कठिन नियम धारण कर लिये। सन् 1953में श्री महावीर जी (राज.) अतिशय क्षेत्र पर आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से आपने क्षुल्लिका दीक्षा लेकर 'वीरमती' नाम प्राप्त किया। पुनः 1956 में बीसवीं सदी के प्रथम आचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज की आज्ञानुसार उनके प्रथम पट्टाधीश शिष्य आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज से माधोराजपुरा (राज.) में आपने आर्यिका दीक्षा लेकर 'ज्ञानमती' नाम प्राप्त किया। ज्ञान प्राप्ति हेतु अध्ययन-अध्यापन एवं स्वाध्याय के प्रति आपकी विशेष अभिरुचि देखकर ही गुरुवर ने आपको यह नाम प्रदान किया था। दीक्षा के प्रारंभिक वर्षों में आपने सर्वप्रथम संस्कृत व्याकरण एवं जैन आगम का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया तथा साथ ही सहस्रनाम मंत्रों की रचनापूर्वक अपनी लेखनी का शुभारंभ भी कर दिया।

57 वर्षों से साधनारत इन महान साध्वी ने अब तक 250 से भी अधिक ग्रंथों का सृजन किया है। संस्कृत, हिन्दी, प्राकृत, कन्नड़ इत्यादि भाषाओं की प्रकाण्ड विदुषी पूज्य माताजी की काव्य प्रतिभा भी अद्वितीय है। जिनेन्द्र भक्ति के रस से भरे हुए न जाने कितनेही पूजन-विधानों की रचना पूज्य माताजी ने अपनी लेखनी द्वारा की है। सन् 1995 में डॉ. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय (फैजाबाद) ने पूज्य माताजी की विराट ज्ञान साधना को देखकर जैन इतिहास में प्रथम बार किसी साध्वी को 'डी.लिट्.' की मानद उपाधि प्रदान की।

कर्मठता, दृढ़संकल्प, अनुशासन के साथ-साथ वात्सल्य की प्रतिबिम्ब पूज्य माताजी की प्रेरणा से कौरवों-पाण्डवों की राजधानी हस्तिनापुर (मेरठ-उ.प्र.) में जैन भूगोल की अद्वितीय रचना-'जम्बूद्वीप' का निर्माण हुआ है।

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की दीक्षा एवं केवलज्ञान कल्याणक भूमि-प्रयाग (इलाहाबाद) में 'तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ' का भव्य निर्माण भी पूज्य माताजी की सृजनशक्ति का ही

सुन्दर प्रतिफल है। इसी प्रकार भगवान महावीर जन्मभूमि-कुण्डलपुर (नालंदा) में नंद्यावर्त महल तीर्थ का भव्य निर्माण पूज्य माताजी की प्रेरणा एवं ससंघ सानिध्य में मात्र 22 माह के अल्प अन्तराल में हुआ है।

2600 वर्ष पूर्व कुण्डलपुर (नालंदा) की जो धरती अहिंसा के अवतार भगवान महावीर के जन्मकल्याणक से महान उत्साह एवं हर्ष को प्राप्त हुई थी वह काल के थपेड़ों से भले ही विस्मृत जैसी हो गयी हो, परन्तु जैन समाज के श्रद्धालुओं का वहाँ जाना हमेशा से जारी रहा और अब पूज्य ज्ञानमती माताजी के महान उपकार स्वरूप यह जन्मभूमि पुनः इस प्रकार जगमगा उठी है कि आने वाला भविष्य सदैव इसकी चमक से प्रभावित रहेगा।

पूज्य माताजी की प्रेरणा से जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति (1982) एवं भगवान ऋषभदेव समवसरण श्रीविहार रथ (1998) का देशव्यापी प्रवर्तन सम्पन्न हुआ एवं कुण्डलपुर से प्रवर्तित भगवान महावीर ज्योति रथ (2003) का प्रवर्तन सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ है। इन रथों के द्वारा सम्पूर्ण भारत में अहिंसामयी सिद्धान्तों की व्यापक प्रभावना हुई।

शैक्षणिक क्षेत्र में अनेकानेक राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठियाँ-सेमिनार इत्यादि पूज्य माताजी की प्रेरणा द्वारा समय-समय पर सम्पन्न हुए हैं। पूज्य माताजी के विराट व्यक्तित्व का अभिनंदन करने के लिए समाज ने उन्हें समय-समय पर युगप्रवर्तिका, चारित्रचन्द्रिका, न्याय प्रभाकर, आर्यिकारत्न, गणिनीप्रमुख, युगनायिका, राष्ट्रगौरव, विश्वविभूति, वाग्देवी, भारतभूषण जैसी उपाधियों से सम्मानित करके स्वयं को गौरवान्वित अनुभव किया है। वर्तमान में महाराष्ट्र प्रान्त के मांगीतुंगी पर्वत पर विश्व की सबसे ऊँची 108 फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा का निर्माण पूज्य माताजी की प्रेरणा से हो रहा है।

24 घंटे में एक बार आहार लेकर, केशलोंच एवं पदविहार जैसी कठिन साधना करते हुए ब्रह्मचर्य एवं चारित्र के तेज को सर्वत्र बिखेरने वाली पूज्य ज्ञानमती माताजी भारतीय संस्कृति की महान धरोहर हैं, जिन्होंने 15 अप्रैल 2006 को अपनी आर्यिका दीक्षा के 50 वर्षों को पूर्ण किया है। 21 दिसम्बर 2008 को जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में पूज्य माताजी की प्रेरणा से आयोजित विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन का उद्घाटन भारत की प्रथम महिला राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील के करकमलों से हुआ और सन् 2009 ''शांतिवर्ष'' के रूप में घोषित हुआ। राष्ट्रपति जी ने जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में पधारकर पूज्य माताजी का आशीर्वाद प्राप्त किया।

दीर्घकालीन तपस्विनी ऐसी पूज्यनीया माताजी ने सन् 2009 में अपने जीवन के 75 वर्ष पूर्ण किए जिसे सन् 2008 से 2009 तक राष्ट्रीय स्तर पर ''हीरक जयंती महोत्सव वर्ष'' के रूप में मनाया गया।

वास्तव में आज के कलिकाल में भी आध्यात्मिक ज्ञान, चारित्र, साधना एवं मोक्षपथ को साकार करने वाले गुरुओं का जितना अभिनंदन किया जाये, उतना कम है। जो बिना कुछ कहे अपनी मुद्रा द्वारा ही शांति, संयम, सदाचार का उपदेश देते हैं ऐसे साधु इस भारत वसुन्धरा की शान हैं और हम जैसे जो भी प्राणीगण परमसौभाग्य से उनके चरणों में आश्रय प्राप्त कर लेते हैं, वे भी अपने जीवन को सही अर्थों में सार्थक कर लेते हैं।

ऐसे चतुर्मुखी प्रतिभा की धनी पूज्य माताजी के श्रीचरणों में भावभीना कोटिशः नमन है।

प्रवचन संकलनकर्त्री पूज्य प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका

श्री चन्दनामती माताजी का संक्षिप्त-परिचय

–ब्र. कु. बीना जैन (संघस्थ)

नाम– प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी

दीक्षा पूर्व नाम– ब्र. कु. माधुरी शास्त्री

जन्मतिथि– 18-5-1958 (ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या)

जन्मस्थान– टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र.

माता-पिता– श्रीमती मोहिनी देवी एवं श्री छोटेलाल जी जैन

भाई– चार (कैलाशचंद, स्व. प्रकाशचंद, सुभाषचंद एवं कर्मयोगी ब्र.रवीन्द्र कुमार जैन)

बहन– आठ (गणिनी आर्यिका शिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी एवं आर्यिका श्री अभयमती माताजी सहित)

लौकिक शिक्षा– हाईस्कूल

ब्रह्मचर्यव्रत– 25 अक्टूबर 1969 को जयपुर में 2 वर्ष का ब्रह्मचर्यव्रत एवं सन् 1971, अजमेर में आजन्म ब्रह्मचर्य सुगंध दशमी को गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी से

धार्मिक अध्ययन– 1972 में सोलापुर से ''शास्त्री'' की उपाधि, 1973 में ''विद्यावाचस्पति'' की उपाधि

द्वितीय एवं सप्तम प्रतिमा के व्रत– सन् 1981 एवं 1987 में गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी से

आर्यिका दीक्षा– हस्तिनापुर में 13-8-1989, श्रावण शु. 11 को गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी से

प्रज्ञाश्रमणी की उपाधि– 1997 में चौबीस कल्पद्रुम महामण्डल विधान के पश्चात् राजधानी दिल्ली में पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा।

साहित्यिक योगदान– चारित्रचन्द्रिका, तीर्थंकर जन्मभूमि विधान, नवग्रहशांति विधान, भक्तामर विधान, समयसार विधान आदि शताधिक पुस्तकों का लेखन, वर्तमान में पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा ''षट्खण्डागम (प्राचीनतम जैन सूत्र ग्रंथ) की संस्कृत टीका एवं ''भगवान ऋषभदेव चरितम्'' की संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद कार्य, 'समयसार' एवं 'कुन्दकुन्दमणिमाला' इत्यादि ग्रंथों का पद्यानुवाद। भजन (300 से अधिक), पूजन, चालीसा, स्तोत्र इत्यादि लेखन की अद्भुत क्षमता, हिन्दी भाषा के साथ-साथ अंग्रेजी, संस्कृत आदि भाषाओं की सिद्धहस्त लेखिका, गणिनी ज्ञानमती गौरव ग्रंथ की प्रधान सम्पादिका।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान का परिचय

जिस हस्तिनापुर में इस संस्थान द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर कार्य कलाप चल रहे हैं, प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की पारणा, कौरव-पाण्डव की राजधानी, दर्शन प्रतिज्ञा में प्रसिद्ध मनोवती का इतिहास आदि पौराणिक कथानकों से जुड़ी वह हस्तिनापुर नगरीएक ऐतिहासिक एवं पौराणिक नगरी है। **सन् 1972** में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के नाम से दिल्ली में इस संस्था का जन्म हुआ।

सन् 1974 से हस्तिनापुर में निर्माण कार्य प्रारंभ किया गया और अब तक वहाँ अनेक भव्य रचनाएं, मंदिर, कमरे, फ्लैट, कोठियां, भोजनालय, टंकी आदि बन चुके हैं। निर्माण के अतिरिक्त संस्थान के द्वारा शिक्षा एवं धर्म प्रचार-प्रसार हेतु शिक्षण शिविर, सेमिनार, अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार, सम्मेलन आदि के आयोजन भी होते रहते हैं। पूज्य माताजी एवं आर्यिका श्री चंदनामती माताजी द्वारा लिखित चारों अनुयोगों एवं धर्मप्रभावना के समाचारों से सहित सम्यग्ज्ञान मासिक पत्रिका का प्रकाशन **सन् 1974** से बराबर निर्बाध गति से चल रहा है। संस्थान के अंतर्गत ही **सन् 1972** में स्थापित वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला से **300** से भी अधिक ग्रंथ लाखों की संख्या में प्रकाशित हो चुके हैं। यहां जम्बूद्वीप पुस्तकालय, णमोकार महामंत्र बैंक, गणिनी ज्ञानमती शोधपीठ आदि के द्वारा धार्मिक शैक्षणिक एवं पारमार्थिक कार्यक्रम चलते रहते हैं। सन् 1975 से प्रारंभ पंचकल्याणकों में अब तक अनेक पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएं एवं प्रति 5 वर्षों में होने वाले जम्बूद्वीप महामहोत्सव में से 4 महोत्सव हो चुके हैं। इस संस्थान द्वारा जहाँ पूज्य माताजी की प्रेरणा से सन् 1982 में दिल्ली से स्व. प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा उद्घाटित जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति रथ का 1045 दिनों तक सम्पूर्ण भारत में भ्रमण एवं हस्तिनापुर में उसकी अखण्ड स्थापना हुई, सन् 1998 में प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा उद्घाटित भगवान ऋषभदेव समवसरण श्रीविहार द्वारा अहिंसामयी सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार हुआ। वहीं भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा) से महामहिम राज्यपाल बिहार प्रान्त द्वारा प्रवर्तित **''भगवान महावीर ज्योति''** रथ के भारत भ्रमण से जनमानस भगवान महावीर के विषय में आगमसम्मत ज्ञान से परिचित हुआ है। जम्बूद्वीप स्थल पर समय-समय पर भव्य दीक्षाएं भी सम्पन्न हुई हैं। इसी संस्थान द्वारा दिल्ली के लालकिला मैदान में 4 फरवरी सन् 2000 को प्रधानमंत्री श्री वाजपेयी द्वारा उद्घाटित ''भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव'' सम्पूर्ण देश एवं विदेशों में मनाया गया। जिसके अंतर्गत अनेक संगोष्ठियाँ, भगवान ऋषभदेव कीर्तिस्तंभ निर्माण आदि कार्यक्रम हुए। सन् 2000-2001 में संस्थान द्वारा पूज्य माताजी की प्रेरणा से भगवान ऋषभदेव की दीक्षा एवं केवलज्ञान भूमि प्रयाग-इलाहाबाद में बनारस हाइवे पर **''तीर्थंकर ऋषभदेव दीक्षातीर्थ''** का नवनिर्माण हुआ है तथा 6 अप्रैल सन् 2001 को ही प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा उद्घाटित राष्ट्रीय स्तर पर सम्पूर्ण भारतवर्ष में मनाए जाने वाले भगवान महावीर 2600वाँ जन्मकल्याणक महोत्सव वर्ष में पूज्य माताजी द्वारा रचित ''विश्वशांति महावीर विधान'' का विराट आयोजन प्रथम राष्ट्रीय आयोजन के रूप में राजधानी दिल्ली के फिरोजशाह कोटला मैदान में अक्टूबर 2001 में सम्पन्न

हुआ। उसी जन्मकल्याणक महोत्सव के अंतर्गत सन् 2003-2004 में संस्थान द्वारा पूज्य माताजी की प्रेरणा से भगवान महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर का विकास कार्य द्रुतगति से हुआ है। ''नंद्यावर्त महल'' नामक तीर्थ परिसर वहाँ का विशेष दर्शनीय स्थल पर्यटकों के लिए आकर्षण का केन्द्र है।

कुण्डलपुर विकास संपन्न होने के पहले ही पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने आगामी वर्ष 2005 को ''भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव वर्ष'' के रूप में मनाने का सारे देश को आह्वान किया और प्रेरणा दी। तदुपरांत पूज्य माताजी ससंघ ने कुण्डलपुर से 14 नवम्बर 2004 को भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि बनारस के लिए विहार किया और पूज्य माताजी के सानिध्य में बनारस में भगवान पार्श्वनाथ की जन्मजयंती 6 जनवरी 2005 को इस पार्श्वनाथ महोत्सव वर्ष का जोर-शोर के साथ सारे देश की जनता के बीच उत्तरप्रदेश के लोक निर्माण मंत्री-श्री शिवपाल सिंह यादव एवं अन्य अतिथियों द्वारा उद्घाटन किया गया। इस महोत्सव वर्ष के अंतर्गत सर्वप्रथम लम्बे समय से प्रतीक्षित भगवान श्रेयांसनाथ की जन्मभूमि सिंहपुरी-सारनाथ में उनकी विशाल प्रतिमा का पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव भव्यता के साथ सम्पन्न हुआ। तदुपरांत टिकैतनगर में भगवान महावीर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में पधारे उत्तरप्रदेश के लोकप्रिय मुख्यमंत्री माननीय श्री मुलायम सिंह यादव ने भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा के समक्ष दीप प्रज्ज्वलित कर 'पार्श्वनाथ वर्ष' का शुभारंभ किया और भगवान पार्श्वनाथ की वह प्रतिमा ''पार्श्वनाथ दि. जैन इण्टर कालेज'' के परिसर में स्थापित की गई है। इसी श्रृंखला में सारे देश में 3 वर्ष तक भगवान पार्श्वनाथ तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव विविध आयोजनों के साथ मनाया गया, जिसका समापन भगवान पार्श्वनाथ की केवलज्ञान भूमि अहिच्छत्र तीर्थ पर तिखाल वाले बाबा के महामस्तकाभिषेकपूर्वक 4 जनवरी 2008 को हुआ।

21 दिसम्बर 2008 का दिवस संस्थान के लिए विशेष गौरवपूर्ण एवं ऐतिहासिक रहा, जब गणतंत्र भारत की महामहिम राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटिल पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी का शुभाशीर्वाद लेने जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर पधारीं और विश्वशाति अहिंसा सम्मेलन का उद्घाटन किया।

इस प्रकार आप सबके सहयोग से संचालित हो रहा दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान अपनी चतुर्मुखी योजनाओं से समाज को सदैव लाभान्वित करता रहे यही मंगल कामना है।

G G G G G

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के सहयोगी

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अन्तर्गत ''वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला'' की स्थापना सन् 1972 में हुई। तब से अब तक लाखों की संख्या में ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है और निरन्तर हो रहा है। ग्रंथमाला से पाठकों को ग्रन्थ कम कीमत में प्राप्त हो सकें, इस दृष्टि से ग्रन्थमाला में एक संरक्षक योजना अगस्त सन् 1990 से प्रारंभ की गई है। इस योजना के अन्तर्गत निम्न महानुभाव अब तक संरक्षक बनकर अपना सहयोग प्रदान कर चुके हैं।

शिरोमणि संरक्षक

1. **श्रीमती निर्मला जैन ध.प. स्व. श्री प्रेमचन्द्र जैन, तत्पुत्र प्रदीप कुमार जैन, खारी बावली, दिल्ली-6।**
2. **श्रीमती सुमन जैन ध.प. श्री दिग्विजय सिंह जैन, इंदौर।**
3. **श्री महावीर प्रसाद जैन संघपति, जी-19, साऊथ एक्सटेन्शन, नई दिल्ली।**
4. **श्री महेन्द्र पाल हरेन्द्र कुमार जैन, सूरजमल विहार, दिल्ली।**
5. **श्रीमती मोहनी जैन ध.प. श्री सुनील जैन, प्रीत विहार, दिल्ली।**
6. **श्री देवेन्द्र कुमार जैन (धारूहेड़ा वाले) गुड़गाँव (हरि.)।**
7. **श्रीमती शारदा रानी जैन ध.प. स्व. रिखबचंद जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92।**
8. **डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन, भोपाल (म.प्र.)**
9. **श्रीमती संगीता जैन ध.प. श्री संजीव कुमार जैन, शेरकोट (बिजनौर) उ.प्र.**
10. **श्री अनिल कुमार जैन, दरियागंज, दिल्ली**
11. **श्री बी.डी. मदनाइक, मुम्बई**
12. **श्री धनकुमार जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92।**
13. **श्री जितेन्द्र कुमार जैन एवं श्रीमती सुनीता जैन कोटड़िया, फ्लोरिडा, यू.एस.ए.**
14. **श्रीमती विमला देवी जैन ध.प. श्री ओमप्रकाश जैन, स्वालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।**
15. **श्री अमित जैन एवं संभव जैन सुपुत्र श्रीमती अनीता जैन ध.प. श्री मूलचंद जैन पाटनी, दिसपुर (कामरूप) आसाम।**
16. **श्रीमती अजित कुमारी जैन ध.प. श्री महेन्द्र कुमार जैन, ओबेदुल्लागंज (रायसेन) म.प्र.।**
17. **श्री नाभिकुमार जैन, जैन बुक डिपो, सी-4, पी.वी.आर. प्लाजा के पीछे, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली।**

परम संरक्षक

1. **श्री माँगीलाल बाबूलाल पहाड़े, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)।**
2. **डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, 792 विवेकानंदपुरी, सिविल लाइन, सीतापुर (उ.प्र.)।**
3. **श्री सुमत प्रकाश जैन, गज्जू कटरा, शाहदरा, दिल्ली।**
4. **श्री सुनील कुमार जैन, द्वारा-सुनील टैक्सटाईल्स, सरधना (मेरठ) उ.प्र.।**
5. **स्व. श्री प्रकाश चंद अमोलक चंद जैन सर्राफ, सनावद (म.प्र.)।**
6. **श्री प्रद्युम्न कुमार जवेरी, रोकड़ियालेन, बोरीवली (वेस्ट) मुंबई।**

7. **श्रीमती उर्मिला देवी ध.प. श्री कान्ती प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।**
8. **श्रीमती उषा जैन ध.प. श्री विमल प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।**
9. **श्री आनन्द प्रकाश जैन (सौरम वाले) , गांधीनगर, दिल्ली।**
10. **श्रीमती सरिता जैन ध.प. श्री राजकुमार जैन, किदवई नगर, कानपुर।**
11. **स्व. श्रीमती कैलाशवती ध.प. श्री कैलाश चन्द्र जैन , तोपखाना बाजार, मेरठ।**
12. **श्री भानेन्द्र कुमार जैन, द्वारा-श्री विद्या जैन, भगत सिंह मार्ग, जयपुर।**
13. **श्री प्रदीप कुमार शान्तिलाल बिलाला, अनूपनगर, इंदौर, (म.प्र.)।**
14. **श्री सुरेशचंद पवन कुमार जैन, बाराबंकी (उ.प्र.)।**
15. **श्री नथमल पारसमल जैन, कलकत्ता-7।**
16. **श्रीमती स्व. शांताबाई ध.प. श्री कमलचंद जैन, सनावद (म.प्र.)।**
17. **श्री रूपचंद जैन कटारिया, दिल्ली**
18. **श्री आशु जैन, कालका जी, नई दिल्ली**

संरक्षक

1. स्व. श्री अनन्तवीर्य जैन एवं स्व. श्रीमती आदर्श जैन के सुपुत्र श्री मनोज कुमार जैन, मेरठ।
2. श्रीमती राजूबाई मातेश्वरी श्री शिखर चन्द भाई देवेन्द्र कुमार लखमी चन्द जैन, सबद (म.प्र.)।
3. श्री चिमनलाल चुन्नीलाल दोशी, कीका स्ट्रीट, मुम्बई।
4. श्रीमती अरुणाबेन मन्नूभाई कोटड़िया, सी.पी. टैंक रोड, मुम्बई।
5. श्रीमती ताराबेन चन्दूलाल दोशी, फ्रेन्च ब्रिज, मुम्बई।
6. श्री रतिलाल चुन्नीलाल दोशी, मुम्बई।
7. स्व. श्रीमती मथुराबाई खुशाल चन्द्र जैन, द्वारा-श्री रतन चन्द खुशाल चन्द्र गाँधी के सुपुत्र श्री धन्य कुमार, अशोक कुमार, शिरीश कुमार, धर्मराज गाँधी फलटन (महा.)।
8. श्री शांतिलाल खुशाल चन्द गाँधी, फलटन (सातारा) महा.।
9. श्री अनन्त लाल फूलचन्द फड़े, अकलूज (सोलापुर) महा.।
10. श्री हीरालाल माणिकलाल गाँधी, अकलूज (सोलापुर) महा.।
11. श्री जयकुमार खुशालचंद गाँधी, अकलूज (सोलापुर) महा.।
12. श्रीमती बदामी देवी मातेश्वरी श्री पदम कुमार जैन गंगवाल, कानपुर (उ.प्र.)।
13. श्रीमती कमलादेवी ध.प. स्व. श्री महेन्द्र कुमार जैन, घण्टे वाले हलवाई, दरियागंज,ई दिल्ली।
14. श्रीमती उषादेवी ध.प. श्री श्रवण कुमार जैन, चावड़ी बाजार, दिल्ली।
15. श्री मुकेश कुमार जैन, कटरा शहंशाही, चाँदनी चौक, दिल्ली।
16. श्री हुकमीचंद मांगीलाल शाह, धानमंडी, उदयपुर (राज.)
17. श्री किरण चन्द्र जैन, कटरा धूलियान, चाँदनी चौक, दिल्ली।
18. श्रीमती विमलादेवी ध.प. श्री महावीर प्रसाद जैन इंजी. विवेक विहार, दिल्ली
19. श्रीमती उषादेवी ध.प. श्री अशोक कुमार जैन (खेकड़ा निवासी), बहराइच (उ.प्र.)।
20. श्रीमती लीलावती ध.प. श्री हरीश चन्द्र जैन, शकरपुर, दिल्ली।
21. श्री दुलीचन्द जैन, बाहुबली एन्कलेव, दिल्ली।

22. श्री रतिलाल केवलचन्द गाँधी की पुण्य स्मृति में, पापुलर परिवार, सूरत (गुज.)।
23. श्रीमती भंवरीदेवी ध.प. श्री सदासुख जैन पांड्या की समृति में इन्दर चन्द सुमेरमल जैन पांड्या, शिलांग (मेघालय)।
24. श्रीमती सोहनीदेवी ध.प. श्री तनसुखराय सेठी, फैन्सी बाजार, गौहाटी (आसाम)।
25. श्रीमती धापूबाई ध.प. श्री कस्तूर चन्द जैन, रामगंज मण्डी (राज.)।
26. श्री मिट्ठनलाल चन्द्रभान जैन, कविनगर गाजियाबाद (उ.प्र.)।
27. श्रीमती शकुन्तलादेवी ध.प. श्री सुरेशचंद जैन (बर्तन वाले), खुड़बुड़ा मोहल्ला, देहरादून (उ.प्र.)।
28. श्री देवेन्द्र कुमार गुणवन्त कुमार टोंग्या, बड़नगर (म.प्र.)।
29. श्री दिगम्बर जैन समाज, तहसील फतेहपुर (बाराबंकी) उ.प्र.।
30. श्री मन्नालाल रामलाल जैन डूंगरवाला, भानपुरा (मन्दसौर) म.प्र.।
31. श्री इन्दर चन्द कैलाश चंद चौधरी, सनावद (म.प्र.)।
32. स्व. श्री प्रकाश चन्द अमोलक चन्द जैन सर्राफ, सनावद (म.प्र.)।
33. स्व. श्री विमल चन्द जैन, रखबचन्द दसरथ सा, सनावद (म.प्र.)।
34. श्री आजाद कुमार जैन शाह (सनावद वाले), इन्दौर (म.प्र.)।
35. श्रीमती सुषमा जैन ध.प. श्री राकेश कुमार जैन, मवाना (मेरठ) उ.प्र.।
36. श्रीमती कुसुम जैन ध.प. श्री रमेशचन्द जैन, किशनपुरी, बागपत रोड, मेरठ।
37. श्रीमती किरण जैन ध.प. श्री पदम प्रसाद जैन एडवोकेट, मेरठ (उ.प्र.)।
38. श्रीमती विमलादेवी ध.प. श्री जिनेन्द्रप्रसाद जैन ठेकेदार, टोडरमल रोड, नई दिल्ली।
39. श्रीमती क्षमादेवी जैन, मधुबन, दिल्ली।
40. श्रीमती कमलादेवी ध.प. श्री राजेन्द्र कुमार जैन टोडरका, ठाणे (महा.)।
41. श्री अजित प्रसाद जैन बब्बेजी, श्री राजकुमार श्रवण कुमार जैन, लखनऊ।
42. श्री प्रभा चन्द गोधा, 45 भगत वाटिका, सिविल लाइन, जयपुर-6 (राज.)।
43. श्री गोपीचन्द विपिन कुमार जैन, सरधना टैन्ट हाउस, गंजमंडी, सरधना।
44. श्रीमती रतनसुन्दरी देवी ध.प. श्री वीरचन्द जैन (चिकन वाले), चूड़ीवाली गली, चौक बाजार, लखनऊ।
45. डॉ. सुभाषचन्द जैन, रातानाड़ा क्लीनिक, रातानाड़ा बाजार, जोधपुर (राज.)।
46. श्री प्रमोद कुमार जैन (मुजफ्फरनगर वाले) 35 एच.वी.रोड, न्यू मार्केट, थरपकनारांची (बिहार)।
47. श्री विजेन्द्र कुमार जैन, के.-1/20 मॉडल टाउन, दिल्ली।
48. श्री कैलाश चंद जैन, 45 भगत वाटिका, सिविल लाइन, जयपुर (राज.)।
49. श्री सुभाषचंद जैन, श्री दि. जैन पार्श्वनाथ चैत्यालय, 405 डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली।
50. श्री सुभाष चन्द जैन सर्राफ, टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र.।
51. श्री चन्द्रसेन जैन, द्वारा-सुमेरचन्द, चन्द्रसेन जैन, सब्जी मण्डी, नहटौर (बिजनौर)।
52. श्री सुधीर कुमार जैन जे.ई., नन्द किशोर जैन, शारदा नहर खण्ड, शाहजहाँपुर।
53. श्री सुकुमालचंद जैन, मोती ट्रेडिंग कम्पनी, टी.आर. फुकन रोड, फैन्सी बाजार, गौहाटी।
54. श्री अनिल पुलकित सेठी, बी 1/122, फेज-2, अशोक विहार, दिल्ली-110052।
55. श्री चन्द्रमोहन बंसल, 11, पूसा रोड, करोलबाग, नई दिल्ली-5।

56. श्री गिरधर प्रसाद आमोद प्रसाद जैन, जैन वस्त्रालय, काली मार्केट, सिवान (बिहार)।
57. श्री सतीश चन्द जैन, 31 सिविल लाइन, म.नं.-10, सेक्टर-2, टाइप-5 झांसी।
58. श्री स्वरूप चन्द कासलीवाल, नया बाजार, अजमेर (राज.)।
59. श्री हुलास चन्द सेठी, अयोध्या शुगर मिल्स, राजा का सहसपुर, बिलारी (उ.प्र.)।
60. श्रीमती किरण देवी जैन ध.प. श्री नरेन्द्र कुमार जैन, सिविल लाइन, सीतापुर (उ.प्र.)।
61. श्रीमती संतोष जैन ध.प. श्री प्रवीण कुमार जैन, बाराबंकी (उ.प्र.)।
62. श्री सूरजमल पुत्र श्री विनीत कुमार जैन, मोहल्ला गंजकटरा पूरणटरा पूरणजाट, जैन विला, मुरादाबाद (उ.प्र.)।
63. स्व. श्री शिखर चन्द जैन, 'टिम्बर कमीशन एजेन्ट', शंकरगंज, हापुड़ (उ.प्र.)।
64. श्रीमती राजेश्वरी जैन मातेश्वरी श्री राकेश जैन 31, सिविल लाईन, सीतापुर।
65. श्री राजकुमार जैन, मैसर्स रविदत्त प्रेमचन्द जैन बारदाने वाले, श्यामगंज, बरेली।
66. श्री बलवीर जैन, द्वारा-जानकी एक्सटेंशन रिफाइनरी, गाँधीगंज, शाहजहाँपुर।
67. श्री पन्नालाल सेठी, डीमापुर (नागालैंड)।
68. श्री वीरेन्द्र कुमार जैन, ईदगाह कालोनी, आगरा (उ.प्र.)।
69. श्री पोखपाल जैन, द्वारा-नावेल्टी मेटल इंडिया, मानसिंह गेट, अलीगढ़ (उ.प्र.)।
70. श्रीमती रश्मि जैन ध.प. श्री विजय कुमार जैन, दरियागंज, नई दिल्ली।
71. श्रीमती विमला देवी ध.प. श्री प्रमोद कुमार जैन इंजी., शाहजहाँपुर (उ.प्र.)।
72. स्व. श्रीमती कैलाशवती जैन ध.प. श्री कैलाश चन्द जैन इंजी., तोपखाना बाजार, मेरठ।
73. श्रीमती अरुण कुमार नांद्रेकर ध.प. भाऊ साहेब नांद्रेकर, मुलुन्ड (वेस्ट) मुम्बई।
74. श्री भागचन्द मनीष कुमार ठोलिया, द्वारा-किरन एजेंसी, पो. बुरहानपुर, (म.प्र.)।
75. श्री कैलाशचन्द राजकुमार जैन रावंका, पो. बिसवां (सीतापुर) उ.प्र.।
76. श्रीमती विद्यावती जैन, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली।
77. श्री आनन्द प्रकाश जैन (सौरम वाले) एवं सुपुत्र श्री मदन कुमार, प्रदीप कुमार एवं प्रवीण कुमार जैन, धर्मपुरा, गाँधीनगर, दिल्ली।
78. श्रीमती अरुणा जैन, ध.प. प्रवीन्द्र कुमार जैन, प्रीतमपुरा, दिल्ली।
79. श्रीमती पुष्पादेवी, ध.प. महेन्द्र कुमार जैन, पुष्पांजली एन्क्लेव, दिल्ली।
80. श्री बाबूलाल तोताराम जैन, भुसावल (महा.)।
81. डॉ. अनुपम जैन, सुदामा नगर, इंदौर (म.प्र.)।
82. श्री विनय कुमार जैन, ज्वैलर्स, दरीबाकलां, दिल्ली।
83. स्व. श्री आनन्द प्रकाश जैन 'शान्तिप्रिय', जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.।
84. श्रीमती राजुलबाई ध.प. श्री नेमीचन्द जैन लोहाड़े, पो. कोपरगाँव (महा.)।
85. श्री धन्नालाल गोधा, मल्हारगंज, इंदौर (म.प्र.)।
86. श्री सुनील कुमार मनोज कुमार जैन, झिलमिल कालोनी, दिल्ली।
87. श्रीमती आशा जैन ध.प. श्री राजेश कुमार जैन बरूआ सागर (उ.प्र.)।
88. श्री पारसमल डूंगरमल जी पाटनी पो. मेड़तासिटी, नागौर (राजस्थान)।

89. श्री अनिल कुमार जैन (गुड़गांव वाले) प्रियदर्शनी विहार, दिल्ली-92।
90. श्रीमती कृष्णा बाई नेमीनाथ जैन, पी. वाले, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)।
91. श्रीमती मंजूलता जैन ध.प. श्री प्रभात चन्द गोधा, नया बाजार, अजमेर (राज.)।
92. श्री प्रमोद कुमार जैन, पारस प्रिन्टर्स, शाहदरा-दिल्ली।
93. श्री चांदमल अनिल कुमार सरावगी, किशनगंज (बिहार)।
94. कुमारी अदिती सुपुत्री श्री अपोलो जी जैन सौगानी, इंदौर।
95. श्रीमती मंजूलता ध.प. प्रभाचन्द गोधा-नया बाजार, अजमेर।
96. श्री सुचेन्द्र कुमार शैलेन्द्र कुमार जैन, डाल्टनगंज (झारखंड)।
97. श्रीमती जतनदेवी लक्ष्मीचंद जैन, चेन्नई (तमिलनाडु)।
98. श्रीमती सखाई जैन ध.प. श्री जीतमल जैन, मड़ाना (कोटा) राज.।
99. श्री मोहित जैन पुत्र मुकेश जैन, जगन्नाथ जैन पहाड़िया, फतेहपुर (शेखावटी) राज.।
100. श्री नरेश जैन बंसल, गुड़गाँवा (हरि.)।
101. श्रीमती रतनबाई ध.प. राजेन्द्र प्रकाश कोठिया, कोटा (राज.)।
102. श्रीमती संतोष जैन ध.प. श्री अजीत कुमार जैन, भिवाड़ी (राज.)।
103. श्रीमती प्रेमलता जैन ध.प. श्री सुशील कुमार जैन, मलाड़ (मुम्बई)।
104. श्री राजेन्द्र कुमार पंचौलिया, इंदौर (म.प्र.)।
105. स्व. श्री मोहनलाल हेमचंद गांधी, सतारा (महा.)।
106. श्रीमती आरती जैन ध.प. श्री प्रकाशचंद जैन 'शीशे वाले', इलाहाबाद (उ.प्र.)
107. डॉ. विमला जैन ''विमल'' ध.प. श्री प्रकाशचंद जैन, फिरोजाबाद (उ.प्र.)
108. श्री प्रद्युम्न कुमार जैन छोटी सा., अमरचंद जैन सर्राफ, लखनऊ (उ.प्र.)

G G G G G

विषयानुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ
1.	अहिंसा सर्वश्रेष्ठ धर्म है	1
2.	णमोकार मंत्र की महिमा	6
3.	धर्म की महिमा	11
4.	गृहस्थ के अष्ट मूलगुण	16
5.	''संस्कार से मानव भगवान बनता है''	21
6.	विनम्रता से लाभ	25
7.	भगवान के दर्शन से अनेक उपवासों का फल मिलता है	31
8.	चिंताओं को कैसे दूर करें ?	34
9.	गुरुभक्ति की महिमा	42
10.	दान की महिमा	46
11.	भक्ति और वैराग्य मानव जीवन के दो सूत्र हैं!	50
12.	सद्गृहस्थ	53
13.	महिलाओं के कर्तव्य	56
14.	दहेज दो तो ऐसा दो	60
15.	'शास्त्र स्वाध्याय कभी व्यर्थ नहीं जाता'	66
16.	नूतन वर्ष-अभिनन्दन	69
17.	गुरु संगति का प्रभाव	73
18.	बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा एक आध्यात्मिक प्रवचन	76
19.	जिनेन्द्र पूजा एवं दान श्रावक के लिए आवश्यक है	79
20.	जैनधर्म कर्मसिद्धान्त पर आधारित है	83
21.	तीर्थंकर जन्मभूमि विकास की आवश्यकता	86
22.	हस्तिनापुर से प्रारंभ हुआ है अक्षय तृतीया पर्व	89
23.	तीर्थंकर, चक्रवर्ती और कामदेव श्री शांति-कुंथु-अरनाथ भगवान	94
24.	रक्षाबंधन पर्व	101
25.	द्रौपदी पंचभर्तारी नहीं थी	103-104

प्रवचन–1

अहिंसा सर्वश्रेष्ठ धर्म है

धम्मो मंगलमुद्दिट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तस्स पणमंति, जस्स धम्मे सया मणो।।

संसार में समस्त प्राणियों के लिए धर्म मंगलस्वरूप है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। वह धर्म अहिंसा, संयम और तपरूप भी है, जो व्यक्ति अपने मन में उस धर्म को धारण करते हैं, उन्हें देवता भी प्रणाम करते हैं।

मंगल शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने कहा है–

मं–मलम् गालयति इति मंगलम् अर्थात् मल–पापों का जो नाश करे, वह मंगल है और दूसरी प्रकार से मंगं–सुखं लाति इति मंगलम् अर्थात् जो सुख की प्राप्ति करावे, उसे मंगल कहते हैं। सभी कार्यों के प्रारंभ में मंगलाचरण इसी उद्देश्य से किया जाता है ताकि बिना किसी विघ्न बाधा के उसे निर्विघ्न सम्पन्न किया जा सके एवं यह हेतु भी होता है कि मेरा शुभ कार्य मेरे और समस्त प्राणियों के लिए सुखकारी होवे।

प्रत्येक पूजा-पाठ के प्रारंभ में भी आप मंगलाष्टक में **''कुर्वन्तु मे मंगलम्''** इत्यादि मंगलपाठ पढ़कर अपने और दूसरों के मंगल की कामना करते हैं। इसी प्रकार का मंगल धर्म में निहित होता है।

भव्यात्माओं! धर्म एक मिश्री के टुकड़े की भाँति है। जैसे मिश्री को आप चाहे स्वरूचि से खाएँ अथवा कोई जबर्दस्ती खिला देवे किन्तु मुँह में जाने के बाद वह मीठी ही लगती है, कभी कडुवी नहीं लगती उसी प्रकार से धर्म को चाहे स्वरुचि से पालें अथवा गुरु प्रेरणा से, वह तो सदैव अचिन्त्य फल को प्राप्त कराता है। वास्तव में तो धर्म आत्मा का स्वभाव ही है। **''वत्थु सहावो धम्मो, दंसणमूलो धम्मो, चारित्तं खलु धम्मो''** इत्यादि रूप से भिन्न-भिन्न परिभाषाओं में धर्म का प्रतिपादन किया गया है।

वर्तमान की युवा पीढ़ी धर्म के नाम से दूर भागती है। मैं सोचती हूँ कि ऐसा क्यों है? बहुत चिन्तन करने के बाद यह बात समझ में आती है कि इस यांत्रिक युग में मानव भी बिल्कुल यंत्रवत्–मशीन के समान हो गया है। चौबीस घंटों में उसने अपने धर्म/कर्तव्य की ओर चिंतन करने का प्रयास नहीं किया।

हमारे पूर्वजों ने बड़े-बड़े मंदिरों का निर्माण कराया और उसे धर्म का साधन बताया किन्तु वहाँ भी जाकर दर्शन करने की लोगों को फुर्सत नहीं है। यहाँ हस्तिनापुर में दर्शनार्थ आने वाले कितने ही महानुभावों को जब मैं मंदिर जाने की या गुरुओं के पास जाने की प्रेरणा देती हूँ तब उनका यही कहना रहता है–माताजी! हमारे पास समय ही नहीं है, इतना व्यस्त हूँ। दूसरी बात आती है कि किसी प्रकार समय निकालकर गुरुओं के पास चले भी जाएँ तो वहाँ सिवाय त्याग की बात के और कुछ होता ही नहीं है। वे कहते हैं कि हम रात्रि भोजन त्याग, कन्दमूल त्याग आदि कैसे कर सकते हैं? और इसी डर से वे धर्म कर्म से दूर रहते हैं। अरे भाई! मैं सोचती हूँ कि धर्म की गाड़ी तो सदैव धक्के से ही चलती है। गुरुओं की प्रेरणा भले ही आज कटु प्रतीत होती है किन्तु ये ही हाथ पकड़कर मोक्षमार्ग में लगाने वाले सच्चे गुरु होते हैं।

जैसे दुकानदार जब अपने ग्राहक को कई प्रकार की वस्तुएँ दिखाता है, तब ग्राहक किसी न किसी वस्तु को पसंद करके खरीद ही लेता है, उसी प्रकार धर्म भी एक व्यापार है और उसका प्रतिपादन करने वाले निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिकाएँ, दुकानदार हैं। दर्शनार्थ आने वाले भव्यात्मा ग्राहकों को वे भिन्न-भिन्न रूप से धर्म के स्वरूप को बताते हैं। अनेक बातों में से यदि एक बात भी उसके गले उतर गई तो समझो कार्य सफल ही हो गया। मैं प्रतिदिन यह अनुभव करती हूँ कि इस पंचमकाल में तो सबसे अधिक अहिंसा धर्म के बारे में लोगों को बताने की आवश्यकता है क्योंकि आज मानव ही मानव का संहारक हो गया है। हिन्दुस्तान में चारों ओर धर्म और जाति के नाम पर हिंसा का तांडव नृत्य चल रहा है। आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी ने कहा है–

''अहिंसाभूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमं'' अर्थात् संसार में प्राणिमात्र की अहिंसा परमब्रह्म स्वरूप है और उसका ज्ञान कराने वाली है। इसका मतलब यह नहीं कि किसी प्रकार का धर्म संकट आने पर भी हाथ पर हाथ रखकर बैठ जावें। अहिंसा धर्म की अत्यन्त सूक्ष्म परिभाषा करते हुए हिंसा के 4 भेद बताये गये हैं–संकल्पी हिंसा, आरंभी हिंसा, उद्योगिनी हिंसा और विरोधिनी हिंसा। इन चारों हिंसाओं में सम्यग्दृष्टी श्रावक तो संकल्पी हिंसा को छोड़कर बाकी तीन हिंसा से बच नहीं सकता है।

देखो! क्षायिक सम्यग्दृष्टि राम घमासान युद्ध करने के बावजूद भी अहिंसक ही रहे। जैन रामायण पद्मपुराण में पढ़ने से समझ में आता है कि मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र ने मात्र एक अपनी पत्नी सीता के लिए रावण से युद्ध नहीं किया बल्कि समस्त नारी

जाति के ऊपर किये जाने वाले अत्याचारों का समूल चूल विध्वंस कराने हेतु ही युद्ध का सहारा लिया था। सभी जानते हैं कि युद्ध बिना हिंसा के नहीं होता और उस समय भी राम-रावण दोनों ही सेनाओं में न जाने कितनी जनता मारी गई किन्तु अंत में धर्मकी विजय हुई। रावण की अक्षौहिणी सेना होने के बावजूद भी उसके पाप ने उसे धराशायी करदिया। उस रावण का नाम सदा-सदा के लिए इतना बदनाम हो गया कि आज कोई भी माता-पिता अपने पुत्र का 'रावण' यह नाम रखना पसंद नहीं करते हैं और राम का नाम बड़े आदर्श सेलिया जाता है क्योंकि उन्होंने धर्मयुद्ध करके आसुरी प्रवृत्ति का विध्वंस किया था।

इसी प्रकार से धर्म और धर्मायतनों पर जब भी कोई विपत्ति आवे, आप अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए सदैव तन, मन, धन से उनकी रक्षा के लिए कटिबद्ध रहें। इतिहास जहाँ अकलंक देव जैसे जैनधर्म की ध्वजा को दिग्दिगन्त में फहराने वाले महान आचार्य का नाम स्मरण कराता है वहीं उनसे पहले अपने मस्तक को बलिवेदी पर चढ़ाने वाले निकलंक को कभी विस्मृत नहीं कर सकता। इसी हस्तिनापुर की भूमि पर आप देखें, पूर्व इतिहास का अवलोकन करें तो ज्ञात होता है कि अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों के ऊपर जब यहाँ बलि ने अग्निकांड का भयंकर उपसर्ग किया था उस समय विष्णुकुमारमहामुनिराज ने अपना मुनिवेष छोड़कर भी उस उपसर्ग का निवारण किया था।

जैनधर्म में तो कर्म सिद्धांत की प्रमुखता है। कर्म के वश होकर यह जीव प्रतिक्षण सुख-दुख का अनुभव करता है। अहिंसा के विषय में तो जितना सूक्ष्म विवेचन जैन सिद्धांत में पाया जाता है, उतना कहीं भी नहीं है।

आचार्य श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में हिंसा का लक्षण बतलाया है–

''प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा'' अर्थात् प्रमाद के योग से किसी के प्राणों का घात करना हिंसा है। इस परिभाषा के अनुसार कोई जीव भले ही हिंसा नहीं कर रहा है परन्तु उसका चित्त प्रमाद और कषाय से युक्त है तो वह हिंसक ही कहा जायेगा तथा प्रमाद कषाय रहित व्यक्ति यदि अपनी क्रियाओं में सावधान है और अन्जान में उससे किसी प्रकार की हिंसा भी हो जाती है तो भी वह अहिंसक माना जाता है क्योंकि प्रधानता तो भावों की है। कई बार ऐसा देखा जाता है कि दो-चार लोग एक पास बैठते हैं और अकारण ही चर्चा छिड़ जाती है कि अमुक व्यक्ति का अहित हो जावे या वह मर जावे तो अच्छा है इत्यादि, पर उनके अशुभ चिंतन से उसका अहित होवे या न होवे किन्तु आत्महिंसा तो हो ही जाती है।

एक व्याघ्र और शूकर के ही भावों को देखिए–

एक बार दो दिगम्बर मुनिराज एक गुफा में रह रहे थे उस गुफा में एक शूकर भी रहता था। मुनिराज के द्वारा उपदेश प्राप्त कर वह एक भक्त की भाँति वहीं पर गुरु रक्षा के भाव से बैठा रहता था। एक दिन मनुष्य की गंध पाकर एक व्याघ्र मुनियों को खाने के लिए झपटा हुआ आया। शूकर उसे दूर से ही देखकर गुफा के द्वार पर आकर डट

गया ताकि वह भीतर बैठे हुए मुनियों की रक्षा कर सके। जैसे ही व्याघ्र ने आक्रमण किया बस, शूकर के साथ उसका युद्ध छिड़ गया। दोनों ही लड़ रहे थे परन्तु दोनों के भावों में बड़ा अंतर था। एक के भाव थे मुनिरक्षा करने के और दूसरे के भाव हिंसा के थे। लड़ते-लड़ते दोनों मर गये, मुनिरक्षा के भाव से शूकर तो पहले स्वर्ग में देव हो गया और व्याघ्र मुनिहिंसा के भाव से नरक चला गया।

पशु होकर भी एक शूकर ने कर्त्तव्य का पालन किया और अपने प्राण तक न्यौछावर कर दिये क्योंकि वह अहिंसक बन गया था। किसी भी जाति या धर्म में कभी हिंसा को श्रेयस्कर नहीं माना है। अहिंसा के बल पर ही हमारे हिन्दुस्तान ने आजादी प्राप्त की है। आप सभी जानते हैं कि राष्ट्रपिता महात्मा गांधी भी अहिंसक थे। यदि सूक्ष्मता से विचार करें तो प्रतीत होता है कि हिंसा और अहिंसारूप भावों की श्रृंखला परस्पर में जन्म-जन्मान्तर तक चला करती है।

धर्म को पालन करने में जातिवाद का कोई बंधन नहीं होता। यदि एक पशु जैसे पामर प्राणी ने भी उसे जीवन में धारण कर लिया तो वह महान बन गया और यदि उच्च कुल में जन्म लेकर किसी ने हिंसा आदि अनार्य कृतियों को जीवन में उतारा तो उसकी कुलीनता व्यर्थ है।

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा, जायते धर्मकिल्विषात्।
कापि नाम भवेदन्या, संपद्धर्माच्छरीरिणाम्।।।

अर्थात् धर्म के प्रसाद से कुत्ता भी मरकर देव बन जाता है और किल्विष–पाप के कारण देवता भी मरकर कुत्ते जैसी निंद्य पर्याय को प्राप्त कर लेते हैं।

आपको मालूम है जैन किसे कहते हैं? **''कर्मारातीन् जयति इति जिनः''** सबसे पहले तो जिन की परिभाषा बताते हुए आचार्यों ने कहा है कि कर्मरूपी शत्रुओं को जिन्होंने जीत लिया है वे जिन कहलाते हैं और फिर **''जिनो देवता यस्य स जैनः''** अर्थात् वे जिनेन्द्र भगवान को देवता मानने वाले जैन कहे जाते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जैनधर्म किसी व्यक्ति विशेष का न होकर **''सार्वभौम''** धर्म बन जाता है इसीलिए इसे विश्वधर्म भी कहा जाता है और प्राणिमात्र के लिए यह हितकारी होता है। कहा भी है–

धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निर्वाण।
धर्म पंथ साधे बिना, नर तिर्यंच समान।।

सांसारिक सुख की सिद्धि और परमार्थ की सिद्धि सभी कुछ धर्म से ही प्राप्त होती है।

हिंसा के चारों भेदों का लक्षण जानना भी आवश्यक है।

1. संकल्पी हिंसा–अभिप्रायपूर्वक किसी भी छोटे या बड़े जीव को मारना संकल्पी हिंसा है।

2. आरंभी हिंसा– चूल्हा जलाना, चक्की पीसना, पानी छानना आदि आरंभ कार्य करके भोजन बनाना, खेती आदि करना आरंभी हिंसा है।

3. उद्योगिनी हिंसा– धन कमाने के लिए बड़े-बड़े व्यापार करना, कारखाने खोलना उसमें होने वाली हिंसा उद्योगिनी हिंसा है।

4. विरोधिनी हिंसा– धर्म, धर्मायतन और धर्मात्माओं की रक्षा के लिए हिंसा करना विरोधिनी हिंसा है। जैसे कि श्री रामचन्द्र ने की थी।

इन चारों हिंसा में से गृहस्थाश्रम में रहने वाले गृहस्थ केवल संकल्पी हिंसाओं का ही त्याग कर सकते हैं क्योंकि भोजन आदि करने हेतु आरंभ करने से उस योग्य हिंसा तो होती ही है फिर भी सावधानीपूर्वक कार्य करना चाहिए। इसी प्रकार धन के बिना गृहस्थी नहीं चल सकती इसलिए व्यापार करना ही पड़ता है उसकी हिंसा भी गृहस्थ के लिए क्षम्य है किन्तु चमड़ा, शराब, हड्डी की खाद, भट्टे आदि हीन कार्य सद्गृहस्थ को नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार श्री गौतम स्वामी द्वारा कथित गाथा के द्वारा मैंने आपको धर्म की परिभाषा सुनाई है इसमें अहिंसा, संयम और तप को भी धर्म कहा है। गृहस्थ के योग्य अहिंसा का वर्णन मैंने संक्षेप में आपको बताया है, आप इसका यथोचितरूप से पालन करते हुए अपने गृहस्थाश्रम को सुखी एवं समृद्धिशाली बनावें, यही मंगल प्रेरणा व आशीर्वाद है।

गृहस्थ धर्म भी पूज्य है।

आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिकैः प्रीतिरूच्चैः,
पात्रेभ्यो दानमापन्नहितजनकृते तच्च कारुण्यबुद्ध्या।
तत्त्वाभ्यासः स्वकीयव्रततरतिममलं दर्शनं यत्र पूज्यं,
तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः।।13।।

जहाँ पर जिनेन्द्रदेव की आराधना की जाती है, गुरुओं का विनय किया जाता है, धर्मात्माओं के साथ अतिशय प्रीति रहती है, पात्रों को दान दिया जाता है एवं आपत्ति से पीड़ित प्राणियों को दयाबुद्धि से करुणा दान दिया जाता है, तत्त्वों का अभ्यास किया जाता है, अपने व्रतों में अर्थात् दान-पूजा आदि क्रियाओं तथा पंच अणुव्रत आदि व्रतों में प्रेम किया जाता है, निर्मल सम्यग्दर्शन धारण किया जाता है, वह गृहस्थावस्था विद्वानों के द्वारा पूज्य है, किन्तु इससे विपरीत गार्हस्थ्य जीवन इस संसार में दुःखदायक मोह का जाल ही है।

श्री पद्मनंदि आचार्य

प्रवचन–2

णमोकार मंत्र की महिमा

संसार में जन्म लेने वाला प्रत्येक मानव किसी न किसी रूप में अपने इष्टदेव का स्मरण करता है। चाहे वह जैन हो या बौद्ध, सिक्ख हो या ईसाई, हिन्दू हो या किसीअन्य धर्म को मानने वाले हो, अपना-अपना आराध्यदेव सभी ने माना है। लगभग सभीधर्म व जाति के लोग अपने से ऊपर कोई महाशक्तिमान् ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उन्हीं में से अनादिनिधन जैनधर्म का मूल मंत्र णमोकार मंत्र है। जो इस प्रकार है–

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

इस मंत्र का अर्थ यह है–अरिहंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक में सर्वसाधुओं को नमस्कार हो। पाँच पदों में इन पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। इसमें कोई व्यक्ति विशेष का नाम न लेकर गुणों को ही नमन किया है।

जो चार घातिया कर्मों का नाश कर चुके हैं उन्हें अर्हंत परमेष्ठी कहते हैं और जिन्होंने संपूर्ण आठों कर्मों का नाश कर मोक्ष अवस्था प्राप्त कर लिया है वे सिद्ध कहलाते हैं। अरिहंत, सिद्ध पद को प्राप्त करने के इच्छुक 36 गुणों का पालन करने वाले चतुर्विध संघ के नायक आचार्य परमेष्ठी होते हैं। संघ में शिष्यों को पठन-पाठन कराने वाले 25 गुणों को धारण करने वाले उपाध्याय परमेष्ठी कहे जाते हैं तथा रत्नत्रय की साधना में लीन 28 मूलगुणों को पालने वाले साधु परमेष्ठी होते हैं।

वर्तमान में इन पाँचों परमेष्ठियों में से तीन परमेष्ठी के दर्शन प्रत्यक्षरूप में हो रहे हैं। पंचमकाल में इस कर्मभूमि में अरहंत होते नहीं और जब अरहंत ही नहीं हैं तो सिद्धपद की प्राप्ति कैसे होगी? अतः अरहंत, सिद्ध की स्थापना धातु या पाषाण की प्रतिमाओं में करके उनकी पूजा की जाती है। इस महामंत्र को उठते-बैठते चलते-फिरते प्रतिक्षण जपना चाहिए जिससे कि कोई भी अमंगल मंगल में परिवर्तित हो जाता है।

आप प्रतिदिन मंदिर में पढ़ते भी हैं–

अपवित्रः पवित्रो वा, सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा।
ध्यायेत्पंचनमस्कारं, सर्वपापैः प्रमुच्यते।।

अर्थात् अपवित्र अवस्था में भी णमोकार मंत्र को मानसिक रूप में हमेशा जपने से पापों का क्षालन होता है। पाँच पद वाला यह मूल मंत्र 35 अक्षरी मंत्र कहलाता है। इसको संक्षिप्त रूप में जानने के लिए प्रत्येक पद का प्रथम अक्षर लेकर ''असिआउसा'' यह मंत्र बनाया गया है। इस असिआउसा मंत्र का जाप करने से पाँचों परमेष्ठियों को

नमस्कार हो जाता है। आप सब इस मंत्र की महिमा जानते हैं कि एक मरते हुए कुत्ते को जीवंधर कुमार ने णमोकार मंत्र सुनाया था जिसके प्रभाव से कुत्ता मरकर यक्षेन्द्र (देव) हो गया था और उस महामंत्र के अपमान का फल भी मालूम ही है।

सुभौम नामक एक षट्खंडाधिप चक्रवर्ती था। वह एक दिन अपने रसोईघर में भोजन करने गया, उसके रसोइए ने गरम-गरम खीर परोस दी। उस गरम खीर के खाने से चक्रवर्ती का मुँह जल गया और इस गुस्से के कारण उसने खीर का बर्तन उठा कर रसोइए के सिर पर पटक दिया जिससे रसोइया तुरंत मर गया और मरकर व्यंतरदेव हो गया। मैं आपको यह बता चुकी हूँ कि वैर और स्नेह के संस्कार जन्म-जन्मान्तर तक चलते हैं। व्यंतर देव को कुअवधिज्ञान से पूर्व भव का सारा वृत्तान्त ज्ञात हो गया, तब उसके हृदय में राजा से बदला लेने की भावना जागृत हो उठी। देव तो वह था ही, विक्रिया से अनेकों रूप बनाने की क्षमता थी अतः एक दिन वह मनुष्य के वेष में सुन्दर सुस्वादु फल लेकर राजदरबार में आ गया और विनयपूर्वक राजा को भेंट किया।

राजा सुभौम ने ऐसे मधुर फल जीवन में कभी नहीं खाये थे अतः उन्हें लालच आ गया। उन्होंने उस व्यक्ति से पूछा कि ये फल कहाँ मिलते हैं? बस फिर क्या था, उस व्यंतर को तो अपनी सफलता नजर आने लगी, उसने कहा–राजन्! आप मेरे साथ चलिए, समुद्र के उस पार बहुत बड़ा बगीचा है, वहाँ ऐसे बहुत सारे फल मिलेंगे। उसके कथन पर मंत्रियों को कुछ आशंका हुई, उन लोगों ने राजा को गुप्त मंत्रणाएँ दी कि राजन्! इसके कथन में कुछ मायाजाल प्रतीत होता है, आप साथ में न जावें किन्तु जिह्वालोलुपी राजा ने किसी की एक न सुनी और चल दिया वेषधारी व्यंतर के साथ फलों को प्राप्त करने। **''बुद्धि कर्मानुसारिणी''** अर्थात् कर्म के अनुसार उसकी बुद्धि हो गई थी।

राजा और व्यंतर दोनों समुद्र के बीच में पहुँच गये। अब तो व्यंतर को अपना मनोरथ सिद्ध करने का स्वर्ण अवसर मिल गया। उसने अपना असली रूप प्रगट कर राजा से अपने पूर्व भव का समाचार बताया और बोला–राजन्! जैसे तुमने मुझे मारा था वैसे ही अब मैं तुम्हें जीवित नहीं छोड़ूँगा। इस अथाह समुद्र में अब तुम बच नहीं सकते। राजा सुभौम समझदार था अतः विपत्ति के समय वह महामंत्र णमोकार को मन में पढ़ने लगा। देखिए! उस परमब्रह्मरूप मंत्र का प्रभाव! व्यंतर देव की मारक-शक्ति भी कुंठित हो गई, वह सुभौम को मार नहीं सका। व्यंतरदेव ने समझ लिया कि यह अपने इष्टदेव का स्मरण कर रहा है इसीलिए मेरी शक्ति कुण्ठित हो गई है अतः उसने कुछ कूटनीतिपूर्वक राजा से कहा–

अरे मूर्ख राजन्! यदि तुझे अपने प्राण प्रिय हैं तो मन में चिंतित मंत्र को पानी में लिखकर पैर रख दे, तब मैं तुझे छोड़ सकता हूँ अन्यथा तू वापस राजमहल नहीं पहुँच सकता। यद्यपि राजा नियम में दृढ़ था किन्तु व्यंतर की मायावी बातों में आकर जीवन का लोभ आ गया। उसने सोचा कि जीवन रहेगा तो पुनः धर्मसाधना कर लूँगा। मन में इस प्रकार सोचकर राजा ने वहीं जल में णमोकार मंत्र लिखकर पैर रख दिया, बस व्यंतर

की मारकशक्ति जागृत हो गई और उसने सुभौम चक्रवर्ती को समुद्र में डुबो दिया।

महामंत्र के अपमान की भावना से सुभौम चक्रवर्ती मरकर सातवें नरक चला गया।

सरस्वती का अपमान करने वाला व्यक्ति भला अच्छी गति को कैसे प्राप्त कर सकता है? कर्मसिद्धान्त कभी राजा या रंक को नहीं देखता, वह तो अपना कार्य करता है। आज भी हम देखते हैं कि लोग धार्मिक कैलेण्डरों का अविनय करते हुए डरते नहीं हैं किन्तु ध्यान रखो कि जिस किसी पुस्तक, कैलेण्डर, चाबी के गुच्छे आदि में भगवान के फोटो हों या णमोकार आदि मंत्र लिखें हों तो उन्हें कभी इधर-उधर नीचे स्थानों में नहीं रखना चाहिए, सदैव उनकी विनय करनी चाहिए।

णमोकार मंत्र को मैंने आपको ''असिआउसा'' के पाँच अक्षरी मंत्र रूप भी बताया। ''अ'' से अरहंत परमेष्ठी, ''सि'' से सिद्ध, ''आ'' से आचार्य, ''उ'' शब्द से उपाध्याय और ''सा'' से साधु इस प्रकार पाँचों परमेष्ठी का हृदय में चिंतन करते हुए असिआउसा का जाप्य करना चाहिए।

इसी प्रकार से महामंत्र का वाचक ''ॐ'' शब्द भी है। जो परंब्रह्म परमात्मा का सूचक होने से सर्वसम्प्रदाय मान्य है। प्रत्येक मंत्र के प्रारंभ में ॐ जुड़ा होता है। यह एकाक्षरी मंत्र है, इसका ध्यान करने से मस्तिष्क के समस्त तनाव दूर हो जाते हैं। भगवान तीर्थंकर की दिव्यध्वनि भी ॐकार रूप मानी गई है। यह ''ॐ'' शब्द कैसे बना है? इसकी प्रक्रिया देखिए–

णमो अरहंताणं का अकार ले लें, णमो सिद्धाणं पद में सिद्ध जीव अशरीरी–बिना शरीर के होते हैं अतः अशरीरी का अ ले लिया तो अ+अ=आ बना। आगे णमो आइरियाणं का आ+आ=दीर्घ आ ही रहा, णमो उवज्झायाणं का उ, आ+उ=ओ बना, णमो लोए सव्वसाहूणं में साधु से मुनि शब्द को ग्रहण किया है अतः मुनि का मकार लेकर ''ओम्'' बन गया। इसे ओम् और ॐ दोनों प्रकार से लिखा जाता है। पाँचों पदों का सार इस ''ॐ'' मंत्र की ही माला फेर लेने से महान पुण्यबंध होता है। अपनी और दूसरों की शांति के लिए प्रतिक्षण इसका उच्चारण करना चाहिए।

आप लोग रामायण देखते हैं उसमें सुग्रीव और रामचन्द्र की कैसी मित्रता दिखाई गई है। कभी आपने जैन रामायण का स्वाध्याय किया हो तो ज्ञात होगा कि इस एक णमोकार मंत्र के निमित्त से दोनों का संबंध जन्म-जन्मान्तर तक रहा है।

महापुर नगर में एक श्रावक पद्मरुचि सेठ किसी समय घोड़े पर चढ़कर अपने गोकुल की तरफ जा रहे थे। उन्होंने उस समय पृथ्वी पर पड़े हुए एक मरणासन्न बैल को देखा। पद्मरुचि घोड़े से उतरकर दयाबुद्धि से उसके पास बैठकर कान में णमोकार मंत्र सुनाने लगे। उस मंत्र को सुनते हुए बैल की आत्मा शरीर से निकल गई और मंत्र के प्रभाव से उसी नगर के राजा छत्रच्छाय की रानी के गर्भ में आ गया और नव मास के बाद पुत्र उत्पन्न हो गया। उसका नाम वृषभध्वज रखा गया।

अनंतर पूर्व संस्कारवश उसे पूर्व जन्म का स्मरण हो गया। बैल पर्याय के बोझा ढोना आदि दुःखों तथा मरते समय महामंत्र श्रवण का दृश्य उसके स्मृतिपटल पर झूलने लगा। वह बचपन से ही णमोकार मंत्र को सदा पढ़ा करता था। किसी एक दिन वह घूमता हुआ उसी स्थान पर पहुँचा जहाँ उस बैल का मरण हुआ था। जातिस्मरण के कारण वह वहाँ के सभी स्थानों को पहचान कर अपने उपकारी को ढूँढ़ने का उपाय सोचने लगा। कुछ सोचकर उसने उसी स्थान पर बहुत बड़ा जिनमंदिर बनवाया। उसमें दीवालों पर अनेकों चित्र भी बनवाए। उसी मंदिर के द्वार पर अपने द्वारपालों को नियुक्त कर दिया कि जो व्यक्ति इस चित्र को बड़े ध्यान से देखे, मुझे उसके दर्शन करा देना।

संयोग की बात एक दिन वंदना की इच्छा करते हुए पद्मरुचि श्रावक उस मंदिर में आ गये और आश्चर्यचकित हो उस चित्र को देखने लगे और मन में सोचने लगे कि णमोकार मंत्र सुनाते हुए यह मेरा ही चित्र किसने बनाया है? अत्यधिक एकाग्रता से इनको चित्रपट देखते हुए इनके मनोभाव को समझकर द्वारपालों ने शीघ्र ही वृषभध्वज राजकुमार को यह समाचार पहुँचा दिया।

वृषभध्वज शीघ्र ही वहाँ आकर परमोपकारी पद्मरुचि सेठ को पहचान कर उनके चरणों में गिर गया और बताया कि यह बैल का जीव मैं ही हूँ। उसने कहा कि हे परम दयालु सेठ! मृत्यु के संकट में आपने हमें महामंत्ररूपी औषधि देकर इस उत्तम भव को प्राप्त कराया है। इस मंत्रदान का मूल्य यद्यपि मैं नहीं चुका सकता, फिर भी आज्ञा दो मैं आपका क्या उपकार करूँ? इस प्रकार दोनों परममित्र बन गये। कुछ भवों के पश्चात् पद्मरुचि का जीव मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र हुआ, बैल का जीव सुग्रीव हुआ है। सुग्रीव विद्याधर ने सीता की खबर मंगाने में और रावण के साथ युद्ध में रामचन्द्र की बहुत सहायता की है। अनंतर ये रामचन्द्र, सुग्रीव, हनुमान आदि महापुरुष दैगम्बरी दीक्षा लेकर घोरातिघोर तपश्चरण करके तुंगीगिरि पर्वत से मोक्ष गये हैं। हम लोग प्रतिदिन निर्वाणकांड में इन सिद्धस्वरूप महापुरुषों की वंदना करते हैं–

राम हणू सुग्रीव सुडील, गव गवाख्य नील महानील।
कोटि निन्यानवे मुक्तिपयान, तुंगीगिरि वंदों धरध्यान।।

देखो! हमें कितने उदाहरण देखने और सुनने को मिलते हैं कि णमोकार मंत्र के स्मरण से कितने ही जीव तिर गये। अधिक नहीं तो कम से कम चौबीस घंटे में आधा घंटा समय निकालकर अपनी आत्मा का चिंतन अवश्य करना चाहिए जिसमें 9 बार ॐकार की ध्वनि करते हुए स्थिरतापूर्वक पंचपरमेष्ठी का अवलंबन लेना चाहिए। प्रत्येक कार्य के प्रारंभ में, समापन में, रात्रि को सोते समय, सोकर उठते ही नित्य णमोकार मंत्र का स्मरण अवश्य करना चाहिए। कभी किसी को तीव्र वेदना हो रही हो, एक कटोरी में छना हुआ शुद्ध जल सामने चौकी पर रखकर णमोकार मंत्र की एक माला फेरकर उस जल को पिला दीजिए, वेदना तुरंत दूर हो जायेगी। विज्ञान भी आज इस बात को सिद्ध

कर चुका है कि जल के सामने पढ़े जाने वाले मंत्र को जल उन पुद्गल शब्द वर्गणाओं को खींचता है और उससे शरीर के अंदर भी प्रभाव पड़ता है इसीलिए आचार्यों ने यंत्र-मंत्र का महत्व बतलाया है। यूँ तो बारह भावना में कहा है–

मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावे कोई।

यद्यपि यह सत्य है कि मरते हुए जीव को कोई मंत्र-यंत्र जीवित नहीं कर सकते फिर भी देवगति आदि उत्तम गति को प्राप्त करा देते हैं और कभी अकालमृत्यु को भी टाल देते हैं। धनंजय कवि जैसे भक्त ने मंत्रौषधि से ही बालक के ऊपर चढ़े सर्प विष को दूर कर उसे जीवनदान दिया था। णमोकार मंत्र के माहात्म्य में ही बतलाया है कि इस मंत्र के विविध प्रयोगों से बिच्छू आदि के विष भी उतर जाते हैं।

इसीलिए इस मंत्र के विषय में कह दिया है–

एसो पंचणमोयारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।।

अर्थात् यह पंचनमस्कार मंत्र समस्त पापों का नाश करने वाला है और सभी मंगलों में पहला मंगल है अतः अपने जीवन में मंगल की कामना करने वाले प्रत्येक मानव को इस महामंत्र का स्मरण अवश्य करना चाहिए।

G G G G G

मनहस्ती को वश में करो

जह चंडो वणहत्थी उद्दामो णयररायमग्गम्मि।
तिक्खंकुसेण धरिदो णरेण दिढसत्तिजुत्तेण।।
तह चंडो मणहत्थी उद्दामो विसयराजमग्गम्मि।
णाणंकुसेण धरिदो रुद्धो जह मत्तहत्थिव्य।।

अर्थ–जैसे जिसके गंडस्थल से मद झर रहा है और जो अत्यन्त कुपित हो रहा है ऐसा वनहस्ती यदि सांकल आदि बंधनों से रहित होकर नगर के राजमार्गों में दौड़ रहा है तो दृढ़ शक्तिशाली मनुष्य तीक्ष्ण अंकुश के द्वारा ही उसे वश में कर सकता है। उसी प्रकार से पंचेन्द्रियों के विषयरूपी राजमार्ग में उद्दंड फिरता हुआ मनरूपी हस्ती ज्ञानरूपी अंकुश के द्वारा ही वश में किया जाता है एवं जैसे मदोन्मत हस्ती भी वशीभूत हो जाने से स्वच्छंद कुछ भी करने में समर्थ नहीं होता है उसी प्रकार से मुनि भी जब अपने मनरूपी हस्ती को वश में कर लेते हैं तो वे उसे जहाँ लगाते हैं, वहीं पर ठहर जाता है, व्यर्थ के दुःखदायी आर्तरौद्र ध्यान की तरफ नहीं जाता है, ऐसा अभिप्राय है।

–भगवान कुंदकुंद देव, मूलाचार

प्रवचन–3

धर्म की महिमा

सर्पो हारलता भवत्यसिलता सत्पुष्पदामायते,
संपद्येत रसायनं विषमपि प्रीतिं विधत्ते रिपुः।
देवा यान्ति वशं प्रसन्नमनसः किं वा बहु ब्रूमहे,
धर्मो यस्य नभोऽपि तस्य सततं रत्नैः परैर्वर्षति।।

धर्मात्मा प्राणी के लिए विषैला सर्प हार बन जाता है, तलवार सुन्दर फूलों की माला हो जाती है, विष भी उत्तम औषधि हो जाता है, शत्रु भी मित्र बन जाता है तथा देव प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा का पालन करने लगते हैं और अधिक तो क्या कहा जाये? आचार्य पद्मनंदि स्वामी कहते हैं कि जिसके पास धर्म है उसके ऊपर आकाश भी निरन्तर रत्नों की वर्षा करता है।

भव्य जीवों! जिस प्रकार अमृत का पान करने से पथिक के मार्ग की थकावट दूर हो जाती है और उसे अतिशय आनंद प्राप्त होता है उसी प्रकार इस धर्मोपदेश के सुनने से भव्य जीवों के संसार परिभ्रमण का दुख दूर हो जाता है तथा उन्हें अनंत सुख का लाभ होता है। जैसे अमृत दुर्लभता से प्राप्त होता है उसी प्रकार धर्म का उपदेश भी अत्यन्त दुर्लभता से प्राप्त होता है। कुंदकुंददेव ने भी समयसार में कहा है–

सुदपरिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।

अर्थात् अनादिकाल से श्रुत, परिचित और अनुभूत पंचेन्द्रियों के विषयभूत काम, भोग, बंध की कथाओं में ही यह जीव आनंदानुभूति कर रहा है किन्तु आत्मतत्त्व, जिसकी प्राप्ति आज तक नहीं हुई है, उससे जीव दूर भागता है। आज के युग में प्रथम तो कोई समीचीन धर्म का उपदेश करने वाले धर्माचार्य ही बड़ी कठिनाई से मिलते हैं और यदि कहीं से उन सच्चे गुरुओं का मार्गदर्शन मिल भी जावे तो उसको ग्रहण करने वाले और भी अधिक दुर्लभ हैं।

जैसे शेरनी का दूध स्वर्णपात्र में ही ठहरता है उसी प्रकार सच्चा धर्म मिथ्यात्व रहित शुद्ध सम्यग्दृष्टि के हृदय में ही टिकता है।

आप दुखहरण स्तुति में सती सोमा का नाम पढ़ते हैं–

सोमा से कहा जो तू सती शील विशाला।
तो कुंभ तें निकाल भला नाग ही काला।।
उस वक्त तुम्हें ध्याके सती हाथ जु डाला।
तत्काल ही यह नाग हुआ फूल की माला।।

वह सोमा सती रात्रि में भोजन नहीं करती थी किन्तु उसकी सास ने जबर्दस्ती उसे अपने नियम से डिगाना चाहा। जब सोमा अपने धर्म में दृढ़ रही, तब सास ने एक घड़े में काला सर्प रखवाकर उस सती की परीक्षा करनी चाही।

बंधुओं! एक छोटा सा नियम भी यदि दृढ़तापूर्वक पालन किया जाता है तो देवता तक उसकी रक्षा करते हैं और सोमा सती के साथ भी वही हुआ। उसने धर्म पर विश्वास करके जिनेन्द्र भगवान का स्मरण कर घड़े में हाथ डाल दिया परन्तु आश्चर्य हो गया उसकी सास एवं पूरे परिवार को, वह काला नाग तो सुन्दर फूलों की माला बनकर सोमा के हाथों में आ गया।

आप लोग ऐसा मत सोचना कि सोमा का जमाना और था और हमारा जमाना बदल गया है। मैं कहती हूँ आप भी दृढ़तापूर्वक नियम का पालन करें और फिर देखें कि आपकी भी देवता रक्षा करते हैं या नहीं?

धर्म के बारे में कविवर भूधरदास जी ने कहा है–

जाचें सुरतरु देय सुख, चिंतत चिंता रैन।
बिन जाचें बिन चिन्तये, धर्म सकल सुख दैन।।

कल्पवृक्ष तो याचना करने से फल देता है और चिंतामणि रत्न भी मन में चिंतन करने से इच्छित वस्तु देता है परन्तु धर्म तो एक ऐसा वृक्ष है जो बिना याचना के ही अचिन्त्य फल को प्राप्त कराता है।

आपने अभी मंगलाचरण में सुना **''सर्पो हारलता भवत्यसिलता सत्पुष्पदामायते''** अर्थात् सर्प का हार तो सोमा ने बनाया और वारिषेण राजकुमार ने तलवार के प्रहार को पुष्पमाल बना दिया था।

जानते हो कैसे थे वारिषेण?

राजगृही नगरी के सम्राट् राजा श्रेणिक के पुत्र वारिषेण प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी को श्मशान में जाकर नग्न होकर ध्यान किया करते थे। एक दिन वे इसी रूप में वहाँ ध्यान में लीन थे और इधर विद्युत्चोर नाम का एक वेश्यागामी चोर रात्रि में नगरसेठ के गले का वेशकीमती हार चुराकर भागा जा रहा था किन्तु हार की दिव्य चमक को वह छिपा न सका तो भागते हुए उसे सिपाहियों ने देख लिया। वे उसे पकड़ने को दौड़े। विद्युत्चोर भागता हुआ श्मशान की ओर निकल आया। उसने वारिषेण को ध्यान में खड़े देखा और सिपाहियों के पंजे से छूटने के लिए उस हार को वारिषेण के सामने पटककर वहाँ से भाग खड़ा हुआ।

इतने में सिपाही भी वहीं आ पहुँचे। वे वारिषेण को हार के पास खड़ा देखकर भौंचक्के रह गये। वे राजपुत्र को इस अवस्था में देखकर हँसे और बोले–अच्छा ढोंग रचा है तूने, चोरी करके योगी बनकर खड़ा है। यह कहकर वे वारिषेण को बांधकर राजा श्रेणिक के पास ले गये और बोले–महाराज! इन्होंने हार की चोरी की है।

सुनते ही श्रेणिक का चेहरा क्रोध के मारे लाल हो गया, उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन करते हुए आज्ञा दे दी–

"इस दुष्ट को श्मशान में ले जाकर मार डालो।"

अपने खास पुत्र के लिए महाराज की ऐसी कठोर आज्ञा सुनकर सबके सब सन्न रह गये किन्तु राजाज्ञा के समक्ष बोलने की हिम्मत कौन करता? जल्लाद लोग उसी समय वारिषेण को श्मशान में ले गये और उनकी गर्दन पर जैसे ही तलवार का प्रहार किया कि वारिषेण के ऊपर पुष्पवृष्टि होने लगी और तलवार का उस पर कोई असर नहीं हुआ। वारिषेण के पुण्य ने उसकी रक्षा की।

सत्य आखिर कहाँ छिपता! वारिषेण की यह हालत देखकर सब उसकी जय-जयकार करने लगे। देवों ने प्रसन्न होकर उस पर सुगंधित फूलों की वर्षा की। जब राजा श्रेणिक को यह समाचार ज्ञात हुआ तब उन्होंने स्वयं जाकर बेटे से क्षमायाचना की किन्तु वारिषेण को तो संसार से वैराग्य हो गया था अतः उसने दैगंबरी दीक्षा धारण कर ली।

इस प्रकार से आगम में तो न जाने कितने उदाहरण भरे पड़े हैं। यदि पुण्य का उदय होता है तो विष भी अमृत बन जाता है और पाप कर्म का उदय होता है तो अमृत भी विष का काम कर जाता है। आज अधर्म और पाप के वशीभूत होकर मनुष्य कितने पाप और अत्याचार कर डालते हैं तथा कई बार ऐसा देखने में आ जाता है कि स्वयं अधर्म के मार्ग पर जाते हुए दूसरे धार्मिक सत्पुरुषों को व्यर्थ ही लांछित करने का दुःप्रयास तक कर डालते हैं। यहाँ तक कि उस झूठ को सत्य साबित करने के लिए अनेकों और झूठे तथ्यों द्वारा वकीलों और जजों को भी गुमराह करने का प्रयास करना पड़ता है लेकिन यह निश्चित है कि धर्म की जड़ पाताल में भी है। यह सारी बातें अपने संसार को बढ़ाने वाली हैं।भगवान शांतिनाथ की जन्मस्थली हस्तिनापुर की पावन भूमि पर आकर आप सबको अपने सम्यग्दर्शन को मजबूत बनाने की प्रतिज्ञा लेनी चाहिए।

धर्म तो आत्मा की वह पवित्र वस्तु है जो कि धर्मात्मा सत्पुरुषों के समक्ष हृदय से वात्सल्य एवं स्नेह भावों को प्रगट करता है। मेरी भावना में आप क्या पढ़ते हैं?

मैत्री भाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे।
दीन दुखी जीवों पर मेरे, उर से करुणा स्रोत बहे।।
दुर्जन क्रूर कुमार्गरतों पर, क्षोभ नहीं मुझको आवे।
साम्यभाव रखूँ मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावे।।

यदि इस प्रकार की दृष्टि बन गई तो समझो कि हम जीवन में अपना और पर का कुछ कल्याण कर लेंगे वर्ना सैकड़ों बार पहले भी ऐसी कई योनियों में भटकते रहे हैं और आगे भी भटकते रहेंगे। सम्यग्दर्शन और धर्म का अविनाभाव संबंध है। कोई बहुत धर्मात्मा होकर भी यदि किसी दूसरे धर्मात्मा पुरुष के दोषों को उघाड़ता है तो वह कभी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता, भले ही सैकड़ों बार समयसार आदि ग्रंथों को क्यों न पढ़ लेवे

आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने सीधी सी बात बताई है–

नांगहीनमलं छेत्तुं, दर्शनं जन्मसन्ततिम्।
न हि मंत्रोक्षरन्यूनो, निहन्ति विषवेदनाम्।।

अर्थात् जिस प्रकार एक अक्षर से न्यून मंत्र कभी विषवेदना को दूर नहीं कर सकता, उसी प्रकार एक अंग से हीन भी सम्यग्दर्शन कभी संसार परम्परा का नाश नहीं कर सकता।

धनंजय कवि कोई बड़े भारी महात्मा नहीं थे। मात्र एक भक्त के रूप में भगवान की पूजा कर रहे थे। उनके पुत्र को सांप ने काट लिया। पत्नी ने मंदिर में समाचार भेजा किन्तु वे पूजा में लीन रहे। बेटे के ऊपर तेज विष चढ़ता चला गया लेकिन धनंजय ने कुछ परवाह नहीं की। आखिर पत्नी को गुस्सा आया कि इधर तो बेटा मरा जा रहा है और इनका मंदिर नहीं छूटता। उसने गुस्से में बालक को ले जाकर मंदिर में ही पति के सामने पटक दिया। धनंजय कवि उस समय भी अचल मूर्तिवत् बैठे हुए भगवान की भक्ति करते रहे। उन्होंने जैसे ही विषापहार स्तोत्र पढ़ना शुरू किया। क्या कहा उन्होंने उस स्तोत्र में, वे भगवान के सामने कहते हैं–

विषापहारं मणिमौषधानि, मंत्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरंति, पर्यायनामानि तवैव तानि।।

हे भगवन्! आपका नाम ही सबसे बड़ा विषापहार मंत्र है, मणि है, औषधि है महारसायन है जो ऐसा श्रद्धान नहीं करते हैं वे ही तो संसार में भ्रमण करते हैं और इस प्रकार से स्तोत्र पढ़ते-पढ़ते बेटे का विष दूर हो गया।

कोई दिगम्बर महामुनि घोरातिघोर तपश्चर्या करके अनेक ऋद्धियों को प्राप्त कर लेते हैं। उन ऋद्धियों में "अमृतस्रावी" नाम की एक ऋद्धि है जो विष को भी अमृतरूप में परिवर्तित कर देती है। वैसे मुनिराज को अपनी ऋद्धियों से कोई प्रयोजन नहीं होता है और न अपने लाभ के लिए वे तपस्या ही करते हैं किन्तु उस ऋद्धि का प्रभाव ही ऐसा होता है कि उन अमृतस्रावी ऋद्धिधारी मुनिराज को कोई कभी दुर्भावनावश आहार में विष भी देवे तो वह उनके हाथ में जाते ही अमृतरूप परिणत हो जाता है और उन मुनियों के वचन भी किसी विष से मूर्च्छित जीव के सामने निकलते हैं तो उसका विष दूर हो जाता है। ऐसे-ऐसे मुनियों के वचन सभी प्राणियों के लिए अमृत का कार्य करते हैं, धर्म की ऐसी ही महिमा है। कहा भी है–

धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निर्वाण।
धर्म पंथ साधे बिना, नर तिर्यंच समान।।

मोक्ष सुख को प्राप्त कराने वाला धर्म सबके लिए आश्रयणीय है। देखो! रावण के भाई विभीषण रामचंद्र के शत्रु पक्ष के थे किन्तु राम के पुण्य से विभीषण भी उनके मित्र

बन गये और उन्होंने भी धर्म का पक्ष लेकर अधर्म का परिहार किया तो लंका के अधिपति बन गये।

अरे भाई! जिसके मन में धर्म है, देवता भी उसके वश में हो जाते हैं। रामचन्द्र की वन में भी सदा देवों ने रक्षा की और उनके दास बनकर रहे।

मुख्य बात तो यह है कि आप गृहस्थ में रहते हुए अपने कर्त्तव्यों का पालन करें तो समस्त मनोरथ सिद्ध हो सकते हैं। आज भी जिनेन्द्र पूजा और गुरुभक्ति करने वाले कितने ही श्रावक ऐसे कहते देखे जाते हैं कि माताजी! हमारे यहाँ तो आप लोगों के आशीर्वाद से सदा लक्ष्मी का बसेरा रहता है। धर्म में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनको पालन करने वाले कभी गरीब, भिखमंगे आदि नहीं होते।

तीर्थंकरों के गर्भ,जन्म आदि कल्याणकों में इन्द्रों का आना यह सब क्या है? पूर्वभवों में उन्होंने धर्म क्रियाएं कर-करके इतना पुण्य बंध किया कि तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो गया जिसके प्रभाव से गर्भ में आने के 6 महीने पूर्व से ही उनकी माता के आंगन में कुबेर रत्नों की वृष्टि करने लगा। महामुनियों को आहार दान देने पर भी दातार के आंगन में देवगण रत्न बरसाते हैं ऐसा शास्त्रों में हम पढ़ते हैं, यह सब धर्म की महिमा है। इसीलिए हमारे ऋषियों ने धर्म को नमस्कार करते हुए कहा है–

धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो, धर्मं बुधाश्चिन्वते,
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं, धर्माय तस्मै नमः।।

ऐसे उस मोक्षसुख को प्राप्त कराने वाले धर्म को मेरा बारम्बार नमस्कार होवे।

G G G G G

पाप बंध किनके नहीं है

पावागमदाराइं अणाइरूवट्ठियाइ जीवम्मि।
तत्थ सुहासवदार उग्घादेंतो कड सदोसो।।50।।
घडियाजलं व कम्मे अणुसमयमसंखगुणियसेढीए।
णिज्जरमणे संते वि महव्वईणं कुदो पावं।।60।।

जीव में पापास्रव द्वार अनादिकाल से स्थित हैं उनके रहते हुए जो जीव शुभास्रव के द्वार का उद्घाटन करता है अर्थात् शुभास्रव के कारणभूत कामों को करता है वह सदोष कैसे हो सकता है? अर्थात् वह निर्दोष है।

जब महाव्रतियों के प्रतिसमय घटिकायंत्र के जल के समान असंख्यात गुणित श्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा होती रहती है तब उनके पाप कैसे संभव है? अर्थात् मुनियों के पाप का आस्रव नहीं होता है।

–जयधवला-श्री वीरसेन स्वामी

प्रवचन–4

गृहस्थ के अष्ट मूलगुण

जिस प्रकार जड़ के बिना कोई भी वृक्ष नहीं ठहर सकता उसी प्रकार मूलगुणों के बिना कोई भी गृहस्थ अपने श्रावक धर्म का पालन नहीं कर सकता। बालक जब माँ के गर्भ से जन्म लेता है, जन्म के 40 दिन के पश्चात् उसे जिनमंदिर ले जाने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। मंदिर में भगवान के सामने उस बच्चे के कान में पंडित जी या कोई बुजुर्ग णमोकार मंत्र सुनाते हैं तथा यदि कोई गुरु उपलब्ध होते हैं तो वे भी बालक को संकल्पपूर्वक मूलगुण धारण कराते हैं। उसकी अज्ञान अवस्था होने के कारण उन मूलगुणों के पालन की जिम्मेदारी माता-पिता पर डाली जाती है और उस दिन से वह बालक जैन बन जाता है। आठ वर्ष के पश्चात् मूलगुणों के पालन की जिम्मेदारी स्वयं बालक के ऊपर निर्भर हो जाती है क्योंकि सैद्धान्तिक नियम के अनुसार 8 वर्ष के पश्चात् कोई भी बालक दीक्षा लेकर केवलज्ञान भी प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। आप श्रावक हैं अतः श्रावक को अपने मूलगुणों के विषय में जानना अति आवश्यक है।

सर्वप्रथम तो यह ज्ञात करना है कि वे मूलगुण कितने होते हैं एवं उनके नाम क्या हैं?–

1. मद्य 2. मांस 3. मधु 4. बड़ 5. पीपल 6. पाकर 7. कठूमर 8. गूलर। इन आठों का त्याग अष्टमूलगुण है।

इन आठों चीजों में अनंत त्रस जीव प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहते हैं, इनके खाने से आत्मा के गुणों का घात होता है अतः इनका प्रयोग जीवन में कभी नहीं करना चाहिए।

मद्य–शराब पीने वाले लोगों के हाल तो आप जानते ही हैं कि उनकी अपनी स्थिति और सारे परिवार की कैसी दुर्दशा होती है। सबसे अधिक तो पैसे की बर्बादी, पुनः स्वास्थ्य की खराबी और नैतिक पतन आदि इस जीव को नरक का पात्र बना देता है।

मिलिट्री का एक नवयुवक मेरे पास दर्शन करने आया। आर्थिक परिस्थिति से वह परेशान था अतः उसने उपाय पूछा। मैंने कोई उपाय बताने से पूर्व उससे एक प्रश्न किया–तुम्हारे अंदर कोई व्यसन तो नहीं है? युवक मौन रहा, मुझे कुछ संदेह हुआ किन्तु मैंने धीमे से पूछा–भैय्या! सिगरेट पीते हो? युवक ने हाँ में गर्दन हिलाई। मैंने पुनः पूछा–प्रतिदिन कितने पैसे की पीते हो? बोले–माताजी! दो रुपये की। मैं बोली–महीने में कितने हुए? युवक ने कहा–60/-रु. की। मैंने कहा–साल में कितना हुआ? वह बोले–720/-रु. हुए। बात होती रही, मैंने पुनः पूछा–महानुभाव! दस साल में कितने पैसों की सिगरेट पी गए? उसने थोड़ा हिसाब जोड़कर लज्जापूर्वक बताया–हाँ..... 7200/- रु. तो हो ही जाते हैं? पास में ही एक बैंक मैनेजर बैठा था। मैंने

उससे कहा–क्यों बाबू! यदि 7200/-रु. बैंक में जमा हो जाते तो उसका ब्याज कितना होता? वे हँसने लगे। मैं सोचने लगी कि हमारे देश के नागरिकों की गरीबी कैसे दूर हो सकती है। जब मात्र एक धूम्रपान के व्यसन ने एक व्यक्ति के दस साल में 7200/-रु. नष्ट कर दिए, साथ में स्वास्थ्य की कितनी हानि हुई यह सर्वविदित ही है। फिर जो एक दिन में सैकड़ों रुपये की शराब, बीयर (अंग्रेजी शराब) पीते हैं उनके बारे में क्या कहा जाये? आज न जाने कितने परिवार इस व्यसन से परेशान एवं तबाह हो रहे हैं, मांस के लोलुपी राजा बक की कैसी दुर्गति हुई कि उसे नरक जाना पड़ा।

उच्च कुल में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के लिए यह अनार्य कृतियाँ शोभास्पद नहीं हैं और मधु–शहद के खाने से मालूम है कितना दोष लगता है? हमारे आचार्य ने बतलाया है कि एक बिन्दु मात्र भी शहद खाने से सात गाँव जलाने का पाप लगता है। इसी प्रकार बड़, पीपल, पाकर, कठूमर और गूलर इन पाँच उदुम्बर फलों के खाने से भी अगणित त्रस जीवों का घात होता है अतः इन सबका त्याग आवश्यक है। इन्हीं नियमों का पालन करने से अष्ट मूलगुण का पालन हो जाता है और गृहस्थ सद्गृहस्थ (श्रावक) कहलाता है।

गृहस्थ में रहते हुए यदि श्रावक अपने कर्तव्य का पालन करते हैं तो वे परम्परा से मोक्षमार्गी हैं।

एक बार पुरुरवा भील जंगल में शिकार खेल रहा था। सामने एक दिगम्बर मुनिराज को देखकर तीर मारने को उद्यत हुआ लेकिन उसकी स्त्री ने कहा–"इन्हें मत मारो ये वन देवता हैं।" तब उसने मुनि को नमस्कार किया। मुनि ने आशीर्वाद दिया–"धर्मलाभ हो"। भील बोला–धर्म क्या चीज है? तब मुनिराज ने कहा–मद्य, मांस, मधु का त्याग करना ही धर्म है पुनः उसे उपदेश देकर तीनों चीजें त्याग करा दीं। इसके प्रभाव से वह आयु के अंत में मरकर स्वर्ग में देव हो गया पुनः सम्राट भरत चक्रवर्ती का पुत्र मरीचि कुमार हुआ, कालांतर में यही भगवान महावीर हुआ।

पुरुषार्थसिद्धिउपाय ग्रंथ में आचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरि ने भी कहा है–

अष्टावनिष्टदुस्तर, दुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया, भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः।।

अर्थात् ये आठों ही अभक्ष्य पदार्थ अनिष्टकारक हैं, पाप के उत्पन्न कराने वाले हैं अतः इनका त्याग करने वाला व्यक्ति ही जिनधर्म की देशना का पात्र हो सकता है।

सागारधर्मामृत में दूसरी प्रकार से आठ मूलगुण बताए हैं–

मद्यपलमधुनिशासन, पंचफलीविरतिपंचकाप्तनुतिः।
जीवदयाजलगालनमिति व क्वचिदष्टमूलगुणाः।।

अर्थात् 3 मकार और रात्रि भोजन का त्याग ये 4 तथा पंचउदुम्बर फल का त्याग,

पंचपरमेष्ठी की स्तुति, जीवदया, जल छानकर पीना ये 8 मूलगुण बताये हैं। रात्रिभोजन करने वाले कभी भी अहिंसा के पालक नहीं हो सकते हैं।

वर्तमान समय में तो रात्रिभोजन की एक आम परम्परा चल गई है। लोग अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए इस बात की दलील देते हैं कि पहले जमाने में बिजली का प्रकाश नहीं था इसलिए रात्रि में जीव दिखते नहीं थे किन्तु आज तो बल्ब की रोशनी में बारीक से बारीक जीव भी दिख जाते हैं अतः समय के अनुसार आगम में भी आज का मानव परिवर्तन करना चाहता है। किन्तु भैय्या! आचार्य कोई अज्ञानी नहीं थे, वे तो बड़े दूरदर्शी होते थे तथा जीव के सर्वतोमुखी कल्याण की भावना से ही तत्त्व का प्रतिपादन करते थे। अभी कुछ ही दिन पूर्व अखबार में छपी एक घटना मैंने सुनी कि एक महिला ने शाम को भोजन बनाकर रख दिया। रात्रि में पतिदेव देर से आये, पत्नी को सोई देखकर उसने सोचा मैं अपने हाथ से ही भोजन निकाल कर खा लूँगा और भोजन करके सो गया। प्रातःकाल जब पतिदेव देर तक नहीं जगे तो पत्नी ने चादर खोलकर देखा किन्तु वे साहब तो सदा के लिए सो चुके थे, सारा शरीर नीला पड़ा था। डाक्टर आया ज्ञात हुआ कि जहर फैल गया है। सारे बदन में कहीं भी कोई जीव काटने का निशान नहीं दिख रहा था। अन्त में बेचारी महिला रसोई घर में पहुँची, सब्जी का बर्तन खोला तो देखते ही मूर्च्छित हो गई। आधी छिपकली उसमें मरी पड़ी थी, बस यही कारण बन गया और वे सज्जन मृत्यु को प्राप्त हो गये।

देखो! यह तो रात्रि में भोजन करने मात्र से इतनी बड़ी हानि हुई और जो भोजन रात में ही बनाया जाता है उसमें तो न जाने कितने मच्छर आदि छोटे-छोटे जीवों के मरने की आशंका रहती है। दूसरी बात विज्ञान भी इस बात को मानता है कि जो सूक्ष्म जीव (बैक्टीरिया) सूर्य की रोशनी में उत्पन्न नहीं होते हैं वे जीव बिजली की रोशनी में पैदा हो जाते हैं। कुल मिलाकर स्वास्थ्य और धर्म दोनों दृष्टि से रात्रिभोजन श्रेयस्कर नहीं है। यहाँ तक कि पक्षी भी रात्रि में अपने-अपने घोंसले में चले जाते हैं और भोजन नहीं करते हैं।

एक सियार ने एक बार सागरसेन मुनिराज के पास रात्रिभोजन का त्याग कर दिया। एक दिन वह सियार बहुत प्यासा था अतः वह पानी पीने के लिए एक बावड़ी में उतरा। वहाँ अंधेरा दिखने से रात्रि समझकर ऊपर आ गया। ऊपर प्रकाश देखकर फिर नीचे गया। नीचे बार-बार अंधेरा देखने से और रात्रि में पानी का त्याग होने से पानी नहीं पिया अतः मर गया। इस व्रत के प्रभाव से वह सियार मनुष्य गति में प्रीतिंकर कुमार हो गया। उसी भव में मुनि दीक्षा लेकर वह कर्मों से छूटकर मुक्त हो गया।

जब एक पशु भी रात्रिभोजन त्याग करके अगले भव में परमात्म अवस्था प्राप्त कर सकता है तो आप तो मनुष्य हैं आपको तो जीवन में प्रत्येक कार्य विवेकपूर्वक करना चाहिए।

पाँच उदुम्बर फलों के एवं 3 मकार के त्याग के विषय में तो मैंने पहले बता ही दिया है। इसके साथ ही पंचपरमेष्ठियों की नित्य ही स्तुति-वंदना करनी चाहिए एवं प्रत्येक प्राणी पर दया भाव रखना चाहिए क्योंकि अपने समान ही हर जीव का दुखदर्द समझने से आपसी प्रेमभाव बढ़ता है।

मृगसेन नामक एक धीवर ने मुनिराज से नियम लिया कि आज मेरे जाल में जो मछली पहले आवेगी, उसे नहीं मारूँगा। नियम के अनुसार उसने अपने जाल में आई हुईमछली के गले में काला धागा बाँधकर पाँच बार उसे छोड़ा अतः उसके प्रभाव से अगले भव में धनकीर्ति सेठ की पर्याय में पाँच बार उसके प्राणों की रक्षा हुई। जीव दया से बढ़कर संसार में दूसरा कोई धर्म नहीं है और जीव हिंसा से बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं है।

आठवाँ मूलगुण बताया है जलगालन अर्थात् पानी को हमेशा छानकर पीना चाहिए क्योंकि जैन सिद्धांत के अनुसार पानी की एक बूंद में असंख्यात जीव होते हैं अतः बिना छना पानी पीने से उन जीवों का घात होता है और स्वास्थ्य भी बिगड़ता है। वैज्ञानिक लोगों ने भी बिना छने पानी की एक बूंद में 36450 जीव बताये हैं, इसलिए पानी को फिल्टर करके तथा उबालकर पीने के लिए डॉक्टर लोग बताते हैं। पानी छानने की भी अपने आप में एक विधि होती है जिसका यथावत् पालन करने से अहिंसाधर्म का भलीभाँति पालन होता है। मोटे कपड़े का दोहरा छन्ना होना चाहिए। ऐसी मर्यादापूर्वक छना हुआ जल अड़तालीस मिनट तक जीव रहित रहता है उसके बाद पुनः उसमें त्रसजीव उत्पन्न हो जाते हैं अतः उसे फिर से छानना चाहिए। छने हुए पानी में लौंग, इलाइची आदि डाल देने से पानी प्रासुक हो जाता है तब उसकी मर्यादा छह घण्टे की हो जाती है। गरम किये हुए जल की मर्यादा चौबीस घंटे की होती है।

आपको यदि अपने मूलगुणों को यथावत् पालन करना है तो सर्वप्रथम दुर्जनों की संगति का त्याग करना चाहिए ताकि शराब, मांस आदि बुरी चीजें खाने की आदत न पड़ने पाये। दूसरी बात अपनी जेब में हर समय एक रुमाल या छन्ना रखें और उससे छानकर पानी पियें।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में आचार्य समंतभद्र स्वामी ने विशेषरूप में अष्टमूलगुण बतोये हैं–

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः।।

अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील इन चारों का एकदेश त्याग और परिग्रह का प्रमाण ये पाँच अणुव्रतों का पालन तथा मद्य, मांस, मधु इन तीन मकारों के त्याग करने को साधुओं ने अष्टमूलगुण कहा है। इसमें अलग से पाँच उदुम्बर फलों का त्याग नहीं बताया है क्योंकि अहिंसाणुव्रत में ही वह अन्तर्भूत हो जाते हैं। इसी प्रकार से रात्रिभोजन त्याग को भी अहिंसा में ही शामिल कर दिया है।

पाँच अणुव्रतों का पालन करने से एक सिंह जैसा क्रूर प्राणी भी तिर गया और वह दसवें भव में तीर्थंकर भगवान महावीर बन गया। जिसने भी अणुव्रतों को धारण किया, उसने सदैव उन्नति की ओर कदम बढ़ाया। यह अकाट्य नियम देखा गया है कि अणुव्रत लेने वाला व्यक्ति कभी गरीब नहीं होता बल्कि दिन दूनी-रात चौगुनी उसकी सम्पत्ति बढ़ती ही जाती है।

अणुव्रत में सेठ पूनमचंद घासीलाल का उदाहरण वर्तमान में प्रसिद्ध है। चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज से उन्होंने पाँच अणुव्रत ग्रहण किए, परिग्रह प्रमाण में उस समय की परिस्थिति के अनुसार वे दस हजार रुपये का प्रमाण करने लगे किन्तु आचार्यश्री ने एक लाख की सीमा कर दी। गुरु का आशीर्वाद और व्रत का माहात्म्य उसी वर्ष उन्होंने जवाहरात के व्यापार में लाखों रुपया कमा लिया, जिसकी उन्हें कभी उम्मीद भी नहीं थी।

एक दिन सेठ जी महाराज के पास आए और बोले–महाराज! मेरा परिग्रह सीमा उल्लंघन कर रहा है, गुरुदेव! अब मैं उस पैसे का क्या करूँ? तभी एक साधु ने कहा–सेठ जी! संघ को सम्मेदशिखर की यात्रा करा दो। तभी आचार्य श्री का संघ उत्तर प्रान्त में आया और संघपति पूनमचंद घासीलाल ने साधुसंघ को सिद्धक्षेत्र की यात्रा कराकर अपने द्रव्य का सदुपयोग कर लिया तथा उनका नाम भी सदा के लिए अमर हो गया।

इसके पश्चात् उनके घर में संपत्ति इतनी बढ़ती चली गई कि मानों लक्ष्मी ने बसेरा ही कर लिया हो। तब उन्होंने बम्बई में कालबा देवी रोड़ पर एक बड़ा विशाल जिनमंदिर बनाया जिसकी तुलना भारत के किसी भी जैन मंदिर से कर पाना अशक्य है। यह घटना अधिक नहीं, लगभग 50 वर्ष पुरानी है।

आज भी कितने ही लोग देखे जाते हैं कि अणुव्रत लेने के बाद उनकी सम्पत्ति बढ़ती ही जाती है किन्तु बात तो भावों की है कि वे सेठ जी लक्ष्मी बढ़ने पर गुरु के पास गये थे और लक्ष्मी का सदुपयोग कर लिया था और आज के लाला लोग क्या करते हैं कि धन बढ़ा तो अपने खाते में परिग्रह पूरा किया तथा उसके बाद पत्नी, बेटा, बेटी, बहू, नाती, पोते न जाने कितनों के नाम से उसे अपने सिर का बोझ बनाये रहते हैं और व्यर्थ ही अपने व्रत में अतिचार (दोष) लगाया करते हैं। इसलिए अपने जीवन को पापभीरू बनाने हेतु अभक्ष्य भक्षण से बचें और अष्टमूलगुणों को धारण करें क्योंकि पंच अणुव्रतों को धारण करने वाला व्यक्ति देवगति को ही प्राप्त करता है, यह अकाट्य नियम है।

G G G G G

प्रवचन–5

''संस्कार से मानव भगवान बनता है''

ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः

जैसे पाषाण शिल्पकार के द्वारा संस्कारित होकर भगवान बनता है, मिट्टी कुम्हार से संस्कारित होकर घड़ा, सकोरा, खिलौने आदि के रूप को धारण कर लेती है, लोहा लुहार के द्वारा तपाये जाने पर, कूटे-पीटे जाने पर ताला, चाबी, अलमारी, तिजोरी आदि अनेक प्रकार से परिवर्तित हो जाता है, सोना स्वर्णकार के हाथों में आकर प्रयोगों के बल पर चमकता है तथा अनेक आभूषणों का रूप धारण करता है उसी प्रकार गुरु से संस्कारों को प्राप्त करके मनुष्य श्रावक व साधु का रूप धारण कर लेते हैं।

जो अनादिकाल के मिथ्यात्व को दूर करके सम्यक्त्व में दृढ़ करें, वे सच्चे गुरु कहलाते हैं। उनके द्वारा प्राप्त संस्कार इस भव में तो काम आते ही हैं, अगले कई जन्मों में वे संस्कार कभी न कभी जागृत अवश्य होते हैं। साधुगण जहाँ भी जाते हैं, समाज को अपना धर्मोपदेश प्रदान करते हैं। कोई पूरा ग्रहण करते हैं, कोई थोड़ा तथा कोई मात्र सुनते ही हैं, एक अक्षर भी ग्रहण नहीं करते फिर भी आचार्यों ने उन्हें सांत्वना प्रदान की है कि मात्र सुना हुआ उपदेश भी बिल्कुल व्यर्थ नहीं जाता, वह किसी भव में देशनालब्धि के रूप में कार्यकारी अवश्य होता है। नरकों में जाने वाले जीवों को भी पूर्वभव की देशना काम आ जाती है। पहले नरक से तीसरे नरक तक तो पूर्व भव के कोई संबंधी देव सम्बोधन करने पहुँच सकते हैं किन्तु चौथे से सातवें नरक तक किसी देव का आवागमन नहीं है अतः वहाँ तो मात्र पूर्वभव का ज्ञान ही काम आ सकता है।

पूर्वभव के संस्कारों से कभी-कभी विद्या ज्यों की त्यों उपलब्ध हो जाती है। सन् 1952 में जब मैंने घर छोड़ा, मेरे मन में पढ़ने की तीव्र उत्कण्ठा थी किन्तु पढ़ाने वाला कोई नहीं मिला। सन् 1954 में जब मैं कातंत्र व्याकरण के सूत्र पढ़ाती तो रात्रि स्वप्न में मुझे कुछ सूत्र नये याद हो जाते। सुबह अपने साथ की क्षुल्लिका विशालमती जी को बताती तो वे कहतीं कि पूर्वजन्म में तुमने इस व्याकरण को अवश्य पढ़ा होगा। एक बार पढ़ने मात्र से मुझे उस व्याकरण के सारे सूत्र याद हो जाते थे। इसी प्रकार बिना पर-निमित्त के शास्त्रों का स्वाध्याय करते-करते मुझे वैराग्य हो गया। घर में माता-पिता मेरी बातें सुनकर आश्चर्यचकित होते कि मेरी बेटी ऐसी बातें क्यों कर रही है? परन्तु मुझे ऐसा लगता कि दीक्षा कोई नई चीज नहीं है। शायद ये भी पूर्वजन्म के संस्कार ही होंगे।

आप लोगों के भी कई जन्म के संस्कार ही हैं जो इस कलिकाल में गुरुओं का उपदेश मिल रहा है, सहज में यह पुण्य अवसर प्राप्त नहीं होता। शास्त्रों में भी कई उदाहरण मिलते हैं कि वैर और मित्रता के संस्कार भव-भव तक चलते हैं। भगवान

पार्श्वनाथ के साथ कमठ का वैर कई भवों तक चलता रहा है। अन्त में उन्हीं की प्रकर्ष क्षमा ने उन्हें तीर्थंकर महापुरुष बना दिया। हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस को तो आठ भव पूर्व के संस्कार स्मरण में आ गए जिसके बल पर दिगम्बर जैन मुनियों की आहारचर्याविधि को जाना और भगवान आदिनाथ को मुनि अवस्था में उन्होंने इक्षुरस का आहार दिया।

राम, रावण और सीता के जीवन से आप परिचित हैं। एक स्त्री के लिए राम को इतना घमासान युद्ध करना पड़ा। संसार में कंचन, कामिनी (स्त्री) और कीर्ति इन तीन के कारण ही बड़े-बड़े युद्ध हुए हैं। यदि सीता को रावण से मुक्त कराने हेतु राम-लक्ष्मण यह युद्ध नहीं करते तो वे मर्यादा पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध नहीं होते यद्यपि जैन रामायण के अनुसार उनके आठ हजार रानियाँ थीं उनमें से एक सीता के चले जाने से कोई फर्क नहीं पड़ रहा था किन्तु स्त्रीजाति पर होने वाले अन्याय का प्रतीकार करने के लिए ही उन्होंने युद्ध किया।

लोक में नीति भी है–**''अन्याय को सहन करने वाला भी अन्यायी कहलाता है''**, अतः महापुरुष कभी भी अन्याय को सहन नहीं कर सकते हैं। मैं यहाँ संस्कार के विषय में बता रही थी कि यद्यपि रावण ने सीता के रूप पर मोहित होकर उसका अपहरण किया किन्तु उसका जबरदस्ती शील भंग नहीं किया क्योंकि रावण ने एक बारमुनिराज से नियम लिया था कि ''जो स्त्री मुझे नहीं चाहेगी मैं उसके साथ बलात्कार नहीं करूँगा।''

सीता ने रावण के इस उपकार का भविष्य में बदला भी ऐसा चुकाया कि नरक में पड़े हुए रावण को वह स्वर्ग से भी सम्बोधन करने पहुँच गई। फलस्वरूप रावण ने वहाँ पर सम्यग्दर्शन ग्रहण किया, कालान्तर में वह रावण का जीव धातकीखण्ड में तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करेगा। यह सम्यक्त्व के संस्कार थे अन्यथा सीताजी रावण की बुराइयों को सोचकर उन्हें नरक के दुःख भोगते हुए देखकर प्रसन्न भी हो सकती थीं किन्तु महापुरुष बुराइयों में भी अच्छाइयाँ ढूंढ लेते हैं। सीता ने भी रावण का एक गुण ही याद किया, उसकी बुराइयाँ नहीं। बुराइयों का फल तो बेचारा वह स्वयं भोग ही रहा था। जैसे शत्रुता और मित्रता के संस्कार जन्मजात तक चलते हैं उसी प्रकार धर्म के संस्कार भी कई भवों तक काम आते हैं। चार पुरुषार्थों में से धर्म पुरुषार्थ की गणना सर्वप्रथम आई है–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यह क्रम बहुत ही सुन्दर रूप से आचार्यों ने बतलाया है। जितने भी महापुरुष हुए हैं, उन सभी ने इन्हीं क्रम से पुरुषार्थों का पालन करके मोक्षधाम को प्राप्त किया है।

दुनिया में लाखों-करोड़ों की संख्या में स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय आदि बने हुए हैं। किसलिए? प्रत्येक प्राणी को शिक्षित करने के लिए। आज तक कहीं पर ऐसा विद्यालय नहीं देखने में आया होगा जहाँ चोरी, डकैती, बेईमानी, अन्याय की शिक्षा दी जाती हो किन्तु फिर भी इन पापों की बहुलता होती जा रही है। इसका एक ही कारण है अनादिकालीन अज्ञान और पाप के संस्कार।

जल स्वभावतः नीचे की ओर ही बहता है, उसे ऊपर पहाड़ों पर या कई मंजिले ऊँचे मकानों में पहुँचाने के लिए मशीनों का प्रयोग करना पड़ता है इसी प्रकार संसारी प्राणियों की मनःस्थिति प्रायः अधोगामी मानी गई है उसे ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए सत्संग, स्वाध्याय आदि मशीनों की आवश्यकता पड़ती है। समयसार में आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी ने कहा है–

सुदपरिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि कामभोगबन्धकहा।
एयत्तस्सुवलम्भो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।

अर्थात् काम, भोग, बंध की कथाएँ तो संसार में सभी के लिए श्रुत, परिचित और अनुभूत हैं क्योंकि अनादिकाल से इन्हीं में सभी रचे-पचे हुए हैं। आत्मतत्त्व के एकत्वविभक्त की कथा ही मात्र दुर्लभ रही है जिसे सुनने और सुनाने वाले प्राणी प्रायः दुर्लभता से प्राप्त होते हैं।

बच्चा जन्म लेते ही माँ के स्तन में मुँह लगाकर दूध पीने लगता है उसे दूध पीना कोई सिखाता तो नहीं है। पंचेन्द्रिय विषय भोगों में आसक्त होने के लिए किसी को सिखाने की आवश्यकता नहीं पड़ती किन्तु धर्ममार्ग पर लगाने के लिए सैकड़ों प्रयास करने पड़ते हैं। फिर भी संसार में एक आश्चर्य की बात देखने में आती है कि यदि कोई प्राणी दीक्षा में, त्याग में आगे बढ़ने लगता है तो परिवार एवं कुटुम्बी लोग उसे धर्म से उन्मुख करके संसारबंधन में फँसाने हेतु प्रयास करते हैं।

सन् 1952 में जब मैं बाराबंकी शहर में आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत और दीक्षा के लिए आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज से प्रार्थना कर रही थी तब अपने कुटुम्बी तो विरोध के लिए आए ही, साथ में न जाने कितने लोग अपनत्व दिखाते हुए मुझे रोकने के लिए आये थे। मैंने जब उन लोगों की बात नहीं मानी तो वे आचार्य महाराज को धमकियाँ देने लगे–देखते हैं आप इस लड़की को दीक्षा कैसे देंगे? इत्यादि। खैर! मेरा पुण्य था, पूर्व जन्म के दृढ़ संस्कार थे, मैंने भगवान की भक्ति का आश्रय लिया और अपनी माँ को रातभर समझाया। उन्होंने मुझे स्वीकृति प्रदान की अतः मुझे सफलता प्राप्त हुई। मैं तो उन माता मोहिनी के भी पूर्व संस्कार ही मानती हूँ जिन्होंने संसार की क्षणभंगुर स्थिति को पहचानकर पहले मुझे सहयोग प्रदान कर असली माता का कर्तव्य निर्वाह किया एवं बाद में स्वयं भी दीक्षा धारण कर आर्यिका रत्नमती बनीं।

मैं कई बार कहा करती हूँ कि यदि कोई लड़का या लड़की ब्रह्मचर्य व्रत लेने लगे तो अपने और पराए सभी रोकने के लिए तैयार रहते हैं किन्तु न जाने किन-किन अपरिचितों के साथ शादी कराके बड़े खुश होते हैं जबकि उसमें सुखी रहने की कोई गारंटी नहीं होती किन्तु अनादिकाल से इन्हीं संस्कारों में संस्कारित मानव इन्हीं कार्यों में आनंद की अनुभूति करता है।

संस्कारों का सर्वाधिक प्रभाव बाल जीवन पर पड़ता है क्योंकि जैसे गीली मिट्टी को चाहे बर्तन या खिलौनेरूप बनाया जा सकता है, नरम सोने को इच्छानुसार गहनेरूप परिवर्तित कर सकते हैं उसी प्रकार बाल्यावस्था भी गीली मिट्टी और नरम सोने के समान होती है तथा उनकी उस समय की ग्राहकशक्ति भी तीक्ष्ण होती है इसलिए उन पर डाले गये संस्कार भी उन्हें शीघ्र ही प्रभावित करते हैं। माता की ममतामयी गोद उनके लिए सबसे बड़ी पाठशाला होती है जो संस्कार वे मान्टेसरी या कान्वेन्ट में प्राप्त नहीं कर सकते, वे माँ से अज्ञातरूप में ही प्राप्त हो जाते हैं। इसके लिए घर और मोहल्ले का वातावरण भी जिम्मेदार होता है। यदि आपकी कॉलोनी शिक्षित है तो आपके बच्चों को भी शिक्षित होने में सहयोग प्राप्त होगा अतः मेरा तो यही कहना है कि पहले आप स्वयं गुरुओं से संस्कार प्राप्त कर शिक्षित बनें पुनः भावी पीढ़ी को संस्कारित करने का संकल्प लेवें तभी देश और समाज का कल्याण हो सकता है।

G G G G G

स्वाध्याय का माहात्म्य

निरस्त सर्वाक्षकषायवृत्तिर्विधीयते येन शरीरिवर्गः।
प्ररूढजन्मांकुरशोषपूषा स्वाध्यायतोऽन्योस्ति ततो न योगः।
गुणाः पवित्राः शमसंयमाद्य विबोधहीनाः क्षणतश्चलन्ति।
कालं कियन्तं तलपुष्पपूर्णास्तिष्ठन्ति वृक्षाः क्षतमूल बंधाः।।

अर्थ–जिस स्वाध्याय के द्वारा प्राणीवर्ग की समस्त इन्द्रियों और कषायों को प्रवृत्ति से रहित किया जाता है और जो बढ़ते हुए भावांकुर के सुखाने के लिए सूर्य सदृश है, ऐसे स्वाध्याय से बढ़कर अन्य कोई योग–ध्यान नहीं है अर्थात् स्वाध्याय करते समय पाँचों इन्द्रियों का अशुभ व्यापार छूट जाता है और कषायों की प्रवृत्ति भी नहीं दिखती है, मन केवल अर्थ के चिन्तन में शांत रहता है तथा संसार की परम्परा घट जाती है। आज के युग में इस स्वाध्याय के अतिरिक्त और ध्यान क्या किया जा सकता है?

कषायों की मंदतारूप प्रशम भाव और संयम आदि जितने भी पवित्र गुण हैं वे सब यदि ज्ञान से रहित हैं तो क्षणमात्र में चलायमान हो जाते हैं। जिन वृक्षों का मूल जड़–बंधन विनष्ट हो गया है, ऐसे पत्र, पुष्पों से परिपूर्ण भी वृक्ष कितने समय तक खड़े रह सकते हैं? अर्थात् जैसे जड़ के उखड़ जाने से हरे-भरे वृक्ष भी गिर जाते हैं वैसे ही ज्ञान के बिना शम-संयम आदि गुण अधिक काल नहीं टिक पाते हैं इसलिए सतत ही जैन आगम का स्वाध्याय करना चाहिए।

–श्री अमितगतिसूरि

प्रवचन–6

विनम्रता से लाभ

अर्हंत आदि पंच परम गुरुओं की पूजा करने में कुशल, ज्ञान आदिकों में यथोचित भक्ति से युक्त, गुरु के प्रति सर्वत्र अनुकूल-प्रवृत्ति, प्रश्न, स्वाध्याय, वाचना, कथा और विज्ञप्ति आदि में कुशल, देश, काल और भाव के स्वरूप को समझने में तत्पर तथा आचार्य के अभिप्राय के अनुरूप आचरण विनय है। विनय सर्व सम्पत्तियों का मूल है। यही मानव जीवन का आभूषण है और संसार समुद्र से पार करने के लिए नौका के समान है।

मूलाचार में विनयकर्म का लक्षण करते हुए कहा है कि "विनीयंते निराक्रियंते संक्रमणेद्योदीरणादि भावेन प्राप्यंते येन कर्माणि तद्विनयकर्म शुश्रूषणं।" जिसके द्वारा कर्म दूर किये जाते हैं–निराकृति किये जाते हैं, संक्रमण, उदय, उदीरणा आदि भावों को प्राप्त करा दिये जाते हैं, वह विनय कर्म है अर्थात् शुश्रूषा करना। तथा विनय का विस्तृत विवेचन करते हुए मूलाचार में विनय के पाँच भेद बताये हैं–दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय और औपचारिक विनय। उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना आदि गुणों को धारण करना, पंच परमेष्ठी में अनुराग करना, उनकी पूजा करना, उनके प्रति असत्य आरोपों का निराकरण करना, उनके गुणों का कीर्तन करना, उनकी अवज्ञा नहीं करना। शंका, कांक्षा आदि अतिचारों को नहीं लगाना तथा जिनेन्द्र कथित तत्त्वों का दृढ़ श्रद्धान करना आदि दर्शन विनय है।

काल की शुद्धि में सूत्र ग्रंथों का पढ़ना-पढ़ाना, हाथ-पैर आदि धोकर पर्यंकासन से अध्ययन करना, नियम विशेष लेकर पढ़ना, बहुमान से पढ़ना, गुरु और ग्रंथ का नाम नहीं छिपाना, शब्द, अर्थ और उभय की शुद्धिपूर्वक पढ़ना। इस तरह काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिन्हव तथा व्यंजनशुद्धि, अर्थशुद्धि और उभयशुद्धि इन आठ के भेद से ज्ञान विनय के भी आठ भेद हो जाते हैं।

इन्द्रियों को जीतना, कषायों को दूर करना, मन-वचन-काय की शुभ प्रवृत्तिरूप तीन गुप्तियों को पालना और पाँच समितिरूप प्रवृत्ति करना यह सब चारित्र विनय है।

आतापन आदि उत्तर गुणों में, अनशन आदि तपश्चरण में उत्साह रखना, तप में अधिक साधुओं की भक्ति करना और जो तप में हीन हैं, उनकी अवहेलना नहीं करना यह सब तप विनय है।

पाँचवें औपचारिक विनय के मन-वचन-काय की अपेक्षा से तीन भेद हैं तथा इनके भी प्रत्यक्ष-परोक्ष की अपेक्षा दो-दो भेद हो जाते हैं।

गुरुओं को आते हुए देखकर आसन से उठकर खड़े होना, सिद्ध, श्रुत, आचार्यभक्तिपूर्वक उनकी वंदना करना, शिर से नमस्कार करना, उनको हाथ जोड़कर प्रणाम करना, जाते

समय उनके पीछे-पीछे जाना, उनका आदर करना। उनसे नीचे बैठना, चलते समय उनके पीछे या उनसे बायें तरफ चलना, उनके सामने आप आसन पर न बैठकर नीचे बैठना, गुरु के लिए आसन-पाटा आदि देना, उन्हें पुस्तक-पीछी-कमण्डलु आदि देना, उन्हें वसतिका, गुफा आदि प्रासुक स्थान देखकर ठहराना और उनके सामने नम्र प्रवृत्ति से बैठना। उनके शरीर तथा समय के योग्य मालिश वगैरह करना, उष्ण काल में शीत क्रिया-उपचार तथा शीत काल में उष्ण क्रिया आदि करना, उनकी आज्ञा के अनुसार उनके काम करना। गुरु के लिए चटाई[1], पाटा आदि संस्तर लगाना। उनके पुस्तक-कमण्डलु आदि उपकरणों का पिच्छिका से प्रतिशोधन करना। इत्यादि रूप से जो भी गुरुओं का या अन्य साधु वर्गों का वाय से कार्य किया जाता है वह सब कायिक विनय है।

गुरुओं के प्रति आदरसूचक वचन बोलना जैसे कि हे भट्टारक! हे भगवन्! इत्यादि। उनके समक्ष हितरूप, मितरूप, मधुर, सूत्र के अनुकूल, अनिष्ठुर, कर्कशता रहित वचन बोलना, गृहस्थ के योग्य, असभ्य या अश्लील वचन मुख से नहीं निकालना, अवहेलना, निंदा व पाप क्रियाकारक वचन भी नहीं बोलना यह सब वाचनिक विनय है।

राग, द्वेष, हिंसा आदि पाप भावों से मन को हटाकर धर्म व सम्यग्ज्ञान आदि में मन को लगाना, यह सब मानसिक विनय है।

गुरु, आचार्य, उपाध्याय आदि के रहते हुए जो उनकी विनय की जाती है वह सब प्रत्यक्ष विनय है तथा उनकी अनुपस्थिति में जो उनका विनय किया जाता है और उनकी आज्ञा का पालन किया जाता है वह सब परोक्ष औपचारिक विनय है।

यहाँ विचार करने की बात यह है कि जब साधु दिगम्बर होकर भी स्वयं अपने गुरु व सहधर्मी साधुओं को, जो कि दीक्षा में एक रात्रि भी बड़े हैं, उनकी इस तरह विनय करते हैं, उन्हें आसन-उपकरण, वसतिका आदि देते हैं, उनके हाथ-पैर दबाना, तैल मर्दन आदि करना करते हैं, तब श्रावकों को तो विनय करना अतीव उपयोगी है ही।

इसलिए श्री कुंदकुंद देव कहते हैं कि "विनय से हीन की सर्व शिक्षा निरर्थक है। शिक्षा का फल विनय है और विनय का फल सर्वकल्याण है। यह विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से ही तप, संयम और ज्ञान की सिद्धि होती है और विनय के द्वारा ही आचार्य तथा सर्वसंघ आराधित प्रसन्न हो जाता है।"[2]

जो गुरुओं की विनय नहीं करते हैं या अभिमान में आकर उनका अनादर-अपमान कर देते हैं उन्हें कितना कटु फल मिलता है–

विजयार्ध पर्वत की श्रेणी पर रथनूपुर नाम का एक नगर है। रावण के जमाने में सहस्रार नाम के राजा इस रथनूपुर के स्वामी थे। उसकी मानसुन्दरी रानी जब गर्भवती

1. संस्तरण करणं-चट्टिकादिप्रस्तरणं (मूलाचार सटीक, पृ. 298) 2. मूलाचार श्री कुंदकुंदकृत, गाथा 188 से 212 तक।

हुई तो उसे इन्द्र के वैभव को भोगने का दोहला हुआ। राजा सहस्रार ने विद्या के बल से इन्द्र जैसे वैभव तैयार किये और रानी के दोहले को पूर्ण किया। नव महीने बाद पुत्र रत्न के उत्पन्न होने पर राजा ने उसका नाम इन्द्र रख दिया। वह पुत्र जब यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ तब उसने विजयार्ध पर्वत के समस्त विद्याधर राजाओं को अपने वश में कर लिया और अपना विशाल वैभव इन्द्र जैसा बनाया।

उसके अड़तालीस हजार रानियाँ थीं, मुख्य रानी का नाम शची था, पुत्र का नाम जयन्त था तथा उसने अपने श्वेतवर्ण के उत्तम हाथी का नाम ऐरावत रखा। उसने चारों दिशाओं में सोम, यम, वरुण आदि नाम रखे, अपनी सभा का नाम सुधर्मा सभा रखा इत्यादि प्रकार से वह इन्द्र 'इन्द्र' के सदृश वैभव का अनुभव कर रहा था।

उस समय लंकापुरी का स्वामी माली नाम का विद्याधर था, यह लंका में ही रहकर समस्त विजयार्ध पर्वत के विद्याधरों पर अनुशासन कर रहा था। इन्द्र के प्रभाव से जब राजाओं ने उसकी आज्ञा उल्लंघन करना शुरू कर दिया तब माली राजा और इन्द्र राजा का आपस में भयंकर युद्ध हुआ। उसमें इन्द्र ने माली को मार डाला। तब उस माली का भाई सुमाली अपनी रक्षा करता हुआ पाताल लंका में निवास करने लगा। वहाँ उसके रत्नश्रवा पुत्र हुआ। इस रत्नश्रवा विद्याधर की केकसी रानी ने ही रावण, विभीषण और कुंभकर्ण को जन्म दिया।

जब रावण तरुण हुआ और उसे यह पता चला कि अपनी राज्य भूमि लंका को जीतकर इन्द्र विद्याधर ने मेरे बाबा को पराजित किया है तब उसके हृदय में प्रतिशोध का भाव उत्पन्न हो गया अतः उसने नाना विद्याएँ सिद्ध कीं।

कालांतर में चक्ररत्न को प्राप्तकर रावण दिग्विजय के लिए निकलता है। क्रमशः वह विजयार्ध पर्वत की भूमि में पहुँचता है तब इन्द्र अपने सभासद देव विद्याधरों को आदेश देता है कि युद्ध की तैयारी करो। पिता सहस्रार के मना करने पर भी इन्द्र रावण के साथ घनघोर युद्ध करता है। उस युद्ध में उभय पक्ष में तमाम सैनिकों का क्षय हो जाता है। अनंतर रावण और इन्द्र विद्याधर का परस्पर युद्ध शुरू हो जाता है। उस युद्ध में शक्तिशाली रावण ने उछल कर अपना पैर इन्द्र के हाथी के मस्तक पर रखा और पैर की ठोकर से सारथी को नीचे गिरा दिया तथा इन्द्र को वस्त्र से बांधकर अपने हाथी पर चढ़ा दिया। इस तरह रावण इन्द्र को जीतकर अपनी लंकापुरी में ले आया।

उस प्रसंग में राजा सहस्रार अपने सामंतों को साथ लेकर रावण के दरबार में आये। रावण ने उनका यथायोग्य विनय किया। पुनः सहस्रार विद्याधर स्वामी ने कहा कि हे रावण! तुम अब मेरे पुत्र को छोड़ दो। रावण बोला–पूज्यवर! मैं उसे इस शर्त पर छोड़ सकता हूँ कि आज से लेकर तुम सभी लोग मेरे नगर में बुहारी देने का काम करो। धूलि, अशुचि पदार्थ, कंटक आदि को साफ करो। इन्द्र भी सुगंधित जल से पृथ्वी का

सिंचन करें और उसकी शची आदि इन्द्राणियाँ पंचवर्ण चूर्ण से मंगल चौक पूरें। यदि आप लोग यह शर्त मंजूर करते हो तो मैं इन्द्र को अभी ही छोड़ देता हूँ। इतना कहकर रावण बार-बार हँसने लगा।

पुनः सहस्रार से विनयावनत होकर रावण ने कहा कि पूज्यवर! आप जैसे इन्द्र के पिता हैं वैसे ही मेरे भी पितातुल्य पूज्य हैं। मैं आपकी आज्ञा को सहर्ष पालूँगा। आज से इन्द्र मेरा चौथा भाई है, मैं उसके साथ इस पृथ्वी तल का राज्य निष्कंटक होकर अनुभव करूँगा। इत्यादि नाना प्रकार के विनय वचनों से सहस्रार को संतुष्ट कर इन्द्र को छोड़ दिया। इन्द्र भी अपने पिता के साथ रथनूपुर नगर को वापस आ गया किन्तु उसके मन में शांति नहीं हो रही थी। उसे बंधन से छूटने का सुख नहीं था किन्तु अपने पराजय का महान दुःख हो रहा था।

एक दिन राजा इन्द्र अपने राजमहल में विद्यमान विशाल जिनालय में बैठे हुए पराजय की चिंता से अतिशय चिंतित हो रहे थे।

इसी बीच में निर्वाणसंगम नाम के चारण ऋद्धिधारी महामुनि आकाश मार्ग से जाते हुए वहाँ जिनमंदिर के दर्शनार्थ आ गये। राजा इन्द्र ने उनका अतिशय विनय करके उनके चरणों के निकट बैठकर अपने पराभव का कारण पूछा। उस समय मुनिराज कहते हैं–

हे इन्द्र! इसी भव में तुमने लीलामात्र में कुछ पाप संचित कर लिया था उसके फलस्वरूप इस पराजय को प्राप्त हुए हो। सो सुनो! अरिंजयपुर नगर में वन्हिवेग विद्याधर ने अपनी 'अहिल्या' पुत्री का स्वयंवर किया था। उस समय वहाँ तुम भी गये थे, किन्तु कर्म संयोग से कन्या ने चंद्रावर्त नगर के राजा आनन्दमाल के गले में वरमाला डालकर उसका वरण कर लिया। ईर्ष्याजन्य बहुत भारी क्रोध के कारण तुम उसी समय से आनंदमाल से द्वेष करने लगे। कुछ ही दिन बाद आनंदमाल ने अपने भाई के साथ जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और उत्कृष्ट तप करने लगे।

एक समय वे महामुनि रथावर्त पर्वत पर प्रतिमायोग से विराजमान थे। उस समय तुम अपने विमान में बैठे हुए उधर से निकले, उन्हें पहचान लिया और उन्हें देखते ही क्रोध से सहित होकर अनेक प्रकार से उनकी हँसी की। तुम बोले–अरे! काम भोग में अतिशय लंपट तू अहिल्या पति है, इस समय तू यहाँ क्यों बैठा है? इत्यादि कहते हुए तुमने उन मुनिराज को रस्सी से कस कर लपेट दिया। फिर भी वे मुनिराज पर्वतसम निश्चल ध्यानमग्न बने रहे। यद्यपि आनन्दमाल मुनि किंचित् भी विकार को प्राप्त नहीं हुए थे किन्तु उन्हीं के समीप उनके छोटे भाई कल्याणमल मुनि प्रतिमायोग से विराजमान थे। सो तुम्हारे इस कुकृत्य से दुःखी होकर उन्होंने प्रतिमायोग का संकोच कर तथा लम्बी और गरम श्वास भरकर तुम्हारे लिए इस प्रकार कहा कि तुमने इन निरपराध मुनिराज का तिरस्कार किया है इसलिए तुम भी बहुत भारी तिरस्कार को प्राप्त होवोगे।

वे मुनि अपनी अपरिमित श्वास से तुम्हें भस्म ही कर देना चाहते थे परन्तु तुम्हारी सर्वश्री नामक भार्या ने उन्हें शांत कर लिया। तुम्हारी सर्वश्री रानी सम्यग्दर्शन सेयुक्त तथा मुनिजनों की पूजा करने वाली थी इसलिए उत्तम हृदय के धारक मुनि भी उसकी बात मानते थे। यदि वह साध्वी उन मुनिराज को शांत नहीं करती तो उनकी क्रोधाग्नि कैसे रोक सकता था? "जो मनुष्य साधुजनों का तिरस्कार करते हैं वे तिर्यंच गति और नरक गति में महान् दुःख पाते हैं। जो मनुष्य मन में साधुओं का पराभव करते हैं वे इस लोक और परलोक में परम दुःख को प्राप्त होते हैं"[1] जो दुष्ट चित्त मनुष्य, तिर्यंच मुनियों को गाली देते हैं अथवा मारते हैं, उन पापी मनुष्यों के विषय में क्या कहा जावे? मनुष्यों के मन-वचन-काय से किये गये अशुभ कर्म छूटते नहीं हैं, समय पाकर वे निकाचित कर्म अवश्य ही फल देते हैं।

इस प्रकार से मुनिराज के द्वारा कहने पर तथा अनेक पूर्वभवों की घटना को भी सुनाने पर राजा इन्द्र को तत्क्षण ही अपने पूर्वजन्मों का स्मरण हो आया। इस भव में अपने द्वारा किये गये मुनिराज के तिरस्कार को भी स्मरण करता हुआ वह इन्द्र महान् दुःख को प्राप्त हुआ। गुरुदेव की बार-बार स्तुति करके अपने पुत्र को राज्य लक्ष्मी का भार सौंप दिया, अनन्तर अपने अनेक पुत्रों और लोकपालों के समूह के साथ जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। यद्यपि उनका शरीर इन्द्र के समान लोकोत्तर भोगों से ललित हुआ था तो भी उन्होंने असाधारण तप का भार धारण कर लिया। तदनन्तर बहुत काल तक घोर तपश्चरण करके अन्त में शुक्लध्यान से कर्मों का क्षय कर निर्वाण को प्राप्त हो गये।

आज भी ऐसे उदाहरण देखने में आते रहते हैं कि जो अपने धन या विद्या के मद से गर्विष्ठ हो मुनि अथवा आर्यिका आदि त्यागी वर्गों की निंदा करते हैं, उनका झूठा अप-प्रचार करते हैं वे निश्चित ही अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करते हैं। जो पापभीरु हैं वे तो उस पाप के फल को भोगकर पुनः त्यागियों की निंदा करना छोड़ देते हैं किन्तु यदि वे दीर्घकर्मी हैं तो न केवल अधिक-अधिक ही मुनि निंदा करते रहते हैं बल्कि निंदा करने का अपना एक धंधा ही बना लेते हैं।

शास्त्रों में तो ऐसा बतलाया गया है कि देव, धर्म या गुरु की निंदा से निकाचित कर्मों का बंध हो जाता है जिसका फल बिना भोगे नहीं छूटता है। इस जन्म में, अगले जन्म में अथवा अनेकों जन्म के अनंतर भी वह बंधा हुआ कर्म अपना फल देता ही देता है। इसलिए सदा गुरुओं की भक्ति और विनय करना चाहिए।

गुरुओं की विनय के बल पर ही अर्जुन विशेष धनुर्धारी प्रसिद्ध हुए हैं। अनेकों मुनि व श्रावकों ने भी विनय के बल से मोक्षमार्ग को प्रशस्त किया है। एक उदाहरण देखिए–

एक तापसी जलस्तंभिनी विद्या के बल से यमुना के मध्य ध्यान करता था। किसी

1. विधाय साधुलोकस्य तिरस्कारं जना महत्। दुःखमत्र प्रपद्य ते तिर्यक्षु नरकेषु च।।97।।
मनसापि हि साधूनां पराभूतिं करोति यः। तस्य सा परमं दुःखं परत्रेह च यच्छति।।95।।
(पद्मपुराण, पर्व 13)

समय एक विद्याधर की पत्नी अपने पति से उसकी प्रशंसा करने लगी। विद्याधर ने कहा कि यह मिथ्यातपस्वी है। देखो! इसकी अज्ञानता मैं तुम्हें दिखाता हूँ। विद्याधर युगल ने चांडाल का वेष बनाकर नदी के किनारे बड़ा सा महल बनाया और भी अनेकों चमत्कार करने लगे। साधु ईश्वर आदि छोड़कर आकर बोला–महाशय! यह विद्या हमें भी दे दीजिए। विद्याधर ने कहा–मैं चांडाल हूँ और तुम ब्राह्मण हो पुनः कैसे गुरु-शिष्य संबंध बन सकेगा?.....खैर, उसके अनुनय-विनय पर विद्याधर ने उसे वह विद्या दे दी। उस तापसी ने राजा के पास अपना चमत्कार दिखाना चाहा। इसी बीच में ये विद्याधर युगल चांडाल वेष में उसके सामने पहुँचे। साधु ने मन में सोचा कि ये नीच इस समय मेरा चमत्कार घटाने के लिए क्यों आ गये? उसी समय उसकी विद्या समाप्त हो गई। तब लज्जित होकर तापसी ने सारी बातें बता दीं। राजा ने उन चांडाल दम्पत्ती को नमस्कार कर विद्या मांगी। चांडाल ने कहा– यदि आप कहीं भी मुझे देखें तो ऐसा कहें कि "मैं आपकी ही चरण कृपा से जीता हूँ" तब तो मैं आपको विद्या दे सकता हूँ। राजा ने स्वीकार कर लिया, चांडाल ने उसे विद्या दे दी।

एक दिन राजा सिंहासन पर बैठे थे, उनके पास बहुत मंत्रीगण व सभासद बैठे हुए थे। उसी समय ये चांडाल युगल आये, राजा ने सिंहासन से उठकर नमस्कार करके विनय से कहा–"प्रभो! मैं आपके चरणों की कृपा से ही जीता हूँ।" इतना कहते ही वह सम्यग्दृष्टी विद्याधर बहुत प्रसन्न हुआ। राजा की विनय से प्रभावित होकर उन्होंने अपने विद्याधर दम्पत्ती के असली रूप को प्रगट किया और सम्यक्त्व के माहात्म्य को तथा विनय गुण के माहात्म्य को बतलाकर राजा को अनेकों और भी विद्याओं को देकर वे अपने विजयार्ध पर्वत पर चले गये। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब लौकिक कार्य भी बिना गुरु की विनय के सिद्ध नहीं हो सकते थे तो परमार्थ कार्य की सिद्धि होना असंभव ही है अतः जो मनुष्य दर्शन, ज्ञान आदि की विनय करते हुए अपने गुरुओं की अतिशय विनय करते हैं, वे ही परम्परा से मोक्ष प्राप्त को प्राप्त करते हैं।

G G G G G

क्या सारा जगत कुमार्ग से रहित हो सकता है?

जिनैरपि कृतं नैतत्सर्वज्ञैर्निः कुमार्गकम्।
जगत् किमुत शक्येत कर्तुमस्मद्विधैर्जनैः।।

जब सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव भी इस संसार को कुमार्ग से रहित नहीं कर सके, तब फिर हमारे जैसे लोग कैसे कर सकते हैं?

–श्री रविषेणाचार्य

प्रवचन–7

भगवान के दर्शन से अनेक उपवासों का फल मिलता है

ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

आप लोग मंदिर में प्रवेश करते ही ॐ जय-जय-जय, निःसही-निःसही-निःसही नमोऽस्तु-नमोऽस्तु-नमोऽस्तु बोलते हैं। इसमें ॐ जय और नमोऽस्तु का अर्थ तो लगभग सभी को पता होता है किन्तु 'निःसही' का अर्थ प्रायः लोगों को ज्ञात नहीं होता। निःसही का वास्तविक अर्थ है कहीं भी प्रवेश करते समय वहाँ के अधिष्ठाता देव से पूछना। प्रायः प्रत्येक स्थान के कोई न कोई अधिष्ठाता देव होते हैं चाहे मंदिर हो या मकान, पर्वत हो या गुफा, सरोवर हो या नदी–समुद्र आदि। श्रावकों को तो केवल मंदिरों में प्रवेश करते हुए निःसही शब्द का प्रयोग करना बतलाया है किन्तु साधुओं के लिए आचार ग्रंथों में उनकी तेरह क्रियाओं के अन्तर्गत असही और निःसही ये दो क्रियाएं बताई हैं, जिन्हें उनको अहोरात्रि (दिन-रात) हर समय करने पड़ते हैं। आपने निःसही शब्द तो सुना और प्रयोग किया है किन्तु असही शब्द तो शायद सुना ही नहीं होगा। जैसे निःसही शब्द मंदिर या मकान में प्रवेश करते समय बोला जाता है, वैसे ही असही शब्द वहाँ से वापस जाते (बाहर निकलते) समय बोला जाता है। इसका मतबल होता है कि उस मंदिर या वसतिका के अधिष्ठाता जो भूत व्यंतरदेव हैं, उनसे पूछकर या उन्हें सूचित करके प्रवेश करना तथा उनसे कहकर ही वापस बाहर निकलना ।

साधुगण (मुनि–आर्यिकादि) तो जितनी बार मल–मूत्र विसर्जन करने जाते हैं अथवा मंदिर या वसतिका आदि में प्रवेश करते हैं, तो निःसही बोलते हैं और वहाँ से वापस आते समय असही बोलते हैं। ये क्रियाएँ उनके लिए आवश्यक होती हैं।

अनगारधर्मामृत में एक श्लोक आया है–

वसत्यादौ वसेत्तत्स्थं, भूतादिं निःसही गिरा।
आपृच्छ्य तस्मान्निर्गच्छेत्तं चापृच्छ्यासही गिरा।।

इसका अर्थ यही है कि वसतिका आदि सभी स्थानों के आधीन देवताओं से पूछकर वहाँ प्रवेश करना या रहना और उनसे पूछकर ही वापस जाना चाहिए।

इन असही–निःसही शब्दों का प्रयोग किसी देवता से निवेदन या प्रार्थना करना नहीं है बल्कि यह एक व्यवहारिकता है। इस निःसही शब्द को बोले बिना सहसा मंदिर में घुस जाना उद्दण्डता का प्रतीक है। साधु यदि इन क्रियाओं का प्रयोग नहीं करें, तो आगम के अनुसार वे प्रायश्चित के भागी होते हैं। आप भी जब अपने किसी रिश्तेदार के घर जाते हैं, तो अत्यंत परिचित होते हुए भी बाहर से घंटी बजाकर उन्हें सूचित करते हैं, किसी सरकारी ऑफिस या कॉलेज की क्लास में प्रवेश करते हैं "मे आई कम इन, सर" बोलकर साहब से पूछकर प्रवेश करते हैं। मैंने यहाँ तक भी देखा है कि कोई विद्यार्थी कक्षा में अध्यापक से बिना पूछे ही घुस गया, तो अध्यापक जी ने उसे कक्षा से

बाहर निकाल दिया क्योंकि उसने व्यवहारिकता का उल्लंघन कर दिया था, इसी प्रकार यदि आपने भी मंदिर प्रवेश में निःसही बोलकर व्यवहारिकता का पालन नहीं किया, तो किसी भूतादि का संकट भी उपस्थित हो सकता है।

यह तो हुई निःसही बोलने की बात, उसके पश्चात् मंदिर के अन्दर घुसते हुए **'निस्संगोऽहं जिनानां सदनमनुपमं त्रिःपरीत्येत्य भक्त्या'** इत्यादि ईर्यापथशुद्धि पाठ पढ़ते हुए भगवान की तीन प्रदक्षिणा लगावें पुनः जिनप्रतिमा के समीप खड़े होकर हाथ जोड़कर णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं एवं चत्तारिमंगल पढ़कर पंचांग नमस्कार करें। पुरुषों का पंचांग नमस्कार घुटने जमीन पर टेककर दोनों हाथ जोड़ते हुए मस्तक को भूमि पर स्पर्श कराना है तथा महिलाओं को गवासन में बैठकर हाथ जोड़ते हुए मस्तक को भूमि पर स्पर्श कराते हुए नमोऽस्तु बोलकर पंचांग नमस्कार करना चाहिये।

मंदिर में प्रतिमाओं के समक्ष वेदिका पर चावल के पुंज भी चढ़ाने का अपना एक तरीका है। प्राचीन परम्परानुसार तो पहले प्रदक्षिणा करके पुंज चढ़ाकर नमस्कार करने का क्रम है। वर्तमान में शायद पहले चावल चढ़ाकर पुनः प्रदक्षिणा लगाने की परम्परा है। जो भी हो, मंदिर में विराजमान देव, शास्त्र, गुरू तीनों के समक्ष अलग-अलग तरीके से पुंज चढ़ाकर नमस्कार करना चाहिए। जैसे–भगवान की प्रतिमा के समक्ष **अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु** बोलकर **पांच पुंज** चढ़ाना चाहिये। बंद मुट्ठी में चावल रखकर अंगूठा अंदर करके सबसे पहले णमो अरिहंताणं बोलते हुए बीच में एक पुंज रखें, पुनः णमो सिद्धाणं बोलकर उस पुंज के ऊपर एक पुंज चढ़ावें, णमो आइरियाणं बोलकर दाईं ओर पुंज चढ़ावें, णमो उवज्झायाणं कहते हुए नीचे पुंज चढ़ावें और णमो लोए सव्वसाहूणं बोलते हुए बाईं ओर अंतिम पाँचवां पुंज चढ़ावें। सभी वेदियों में भगवान की प्रतिमाओं के समक्ष इसी क्रम से पांच पुंज चढ़ाना चाहिए पुनः जिनवाणी–शास्त्र जहाँ विराजमान रहते हैं, उनके समक्ष वेदी पर **'प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः'** बोलते हुए सीधे क्रम से ही **चार पुंज** चढ़ाने चाहिए क्योंकि जिनवाणी माता प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार प्रकार की होती है। उनके समक्ष पुंज चढ़ाने के पश्चात् पंचांग नमस्कार करते समय भी यही प्रथमं करणं वाला पद बोलें। इसके बाद मंदिर में या धर्मशाला में यदि कोई साधु-मुनि, आर्यिकादि विराजमान हों, तो उनके पास जाकर **'सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र'** बोलकर क्रम से **तीन पुंज** चढ़ावें क्योंकि साधु रत्नत्रय की साधना करते हैं। इसीलिए उनके समक्ष तीन पुंज चढ़ाकर पंचांग नमस्कार किया जाता है।

साधुओं के पास नमस्कार करने में भी अलग-अलग शब्दों का प्रयोग होता है। उन्हें भी आप लोगों को अवश्य जानना चाहिए। जैसे–**दिगम्बर मुनियों को नमस्कार करने में 'नमोऽस्तु' बोला जाता है, आर्यिकाओं को 'वंदामि' कहकर नमस्कार करते हैं, क्षुल्लक और क्षुल्लिकाओं को 'इच्छामि' कहकर नमस्कार करते हैं।**

नित्य देवदर्शन करने वाले को जिनवाणी और गुरूदर्शन का लाभ तो अनायास प्राप्त हो ही जाता है। जैनकुल में जन्म लेने के नाते प्रत्येक प्राणी को मंदिर दर्शन का नियम अवश्य लेना चाहिए। जैन रामायण पद्मपुराण के 32वें पर्व में जिनेन्द्र दर्शन का अचिन्त्य माहात्म्य बतलाया है–

फलं ध्यानाच्चतुर्थस्य, षष्ठस्योद्यममात्रतः।
अष्टमस्य तदारंभे, गमने दशमस्त तु।।

इसी प्रकार आगे पांच श्लोकों में कहा है–'भगवान के दर्शन के लिए विचार करने मात्र से एक उपवास का फल मिलता है। गमन के लिए उद्यम करने पर दो उपवास, नहाने–धोने आदि रूप आरम्भ करने पर तीन उपवास, घर से मंदिर के लिए चल देने पर चार उपवास, थोड़ी दूर चले जाने पर पाँच उपवास, आधा रास्ता तय हो जाने पर पन्द्रह उपवास, कुछ दूर से मंदिर के दिख जाने पर एक महीने का उपवास, मंदिर के परिसर में पहुँच जाने पर छह मास का उपवास, मंदिर के द्वार में प्रवेश करने पर एक वर्ष का उपवास, भगवान की तीन प्रदक्षिणा लगाने पर सौ वर्ष का उपवास, जिनेन्द्र भगवान के मुख कमल का दर्शन करने पर हजार वर्ष का उपवास और भावपूर्वक स्तुति करने से अनंत उपवासों का फल प्राप्त होता है।' इसका मतलब यही है कि जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से बढ़कर संसार में कोई वस्तु नहीं है।

मेंढ़क जैसा तुच्छ तिर्यंच प्राणी देवदर्शन की भावना से कमल पांखुड़ी अपने मुँह में दबाकर चल पड़ा, मार्ग में राजा श्रेणिक के हाथी के पैर तले दबकर मर गया, तो भी वह स्वर्ग में देव हो गया। यह उसकी दर्शन करने की भावना का ही फल तो था। भक्ति के प्रवाह में उस बेचारे ने यह भी नहीं सोचा कि मुझ जैसा क्षुद्र प्राणी इतनी भीड़ में भगवान महावीर के पास तक कैसे पहुँच जाएगा? लेकिन वह तो अपनी शक्ति के अनुसार द्रव्य लेकर चल पड़ा था अतः भले ही उस पर्याय में भगवान तक न पहुँच सका किन्तु मरकर तुरंत ही अन्तर्मुहूर्त में देव शरीर धारण कर महावीर स्वामी के समवसरण में पहुँच गया। राजा श्रेणिक से पहले ही उसे जिनेन्द्र प्रभु के दर्शन का सौभाग्य मिला। समवशरण में श्रेणिक द्वारा प्रश्न किये जाने पर ज्ञात हुआ कि यह मेंढ़क का जीव भक्ति के फलस्वरूप देव बनकर यहाँ आया है। आप महावीराष्टक स्तोत्र में भी पढ़ते हैं–

'यदर्च्चाभावेन प्रमुदितमना दर्दुर इह'

देखो! एक मेंढ़क को कवियों ने अपनी स्तुतियों में स्थान दे दिया। आचार्यश्री समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में उस मेंढ़क की भक्ति का निरूपण किया है–

अर्हच्चरणसपर्या, महानुभावं महात्मनामवदत्।
भेकः प्रमोदमत्तः, कुसुमेकैन राजगृहे।।120।।

यह जिनेन्द्र दर्शन का ही माहात्म्य है। आप मनुष्य होकर जिनदर्शन का महत्व जानकर अपने जीवन का सदुपयोग करें, अनंत जन्मों में संचित पाप पुंज का नाश करें बिना उपवास किए असंख्यात उपवासों का पुण्यफल प्राप्त करें, यही मेरा मंगल आशीर्वाद है।

प्रवचन–8

चिंताओं को कैसे दूर करें ?

धर्मप्रेमी महानुभावों! गृहस्थाश्रम में पुरुष व महिलाओं को प्रायः किसी न किसी प्रकार की चिंता बनी ही रहती है। किसी के पास धन नहीं है तो किसी के व्यापार में घाटा लग रहा है, किसी का धन चोर लूट रहे हैं तो किसी को सरकारी बंधन व कानूनों से धन का संरक्षण करना कठिन हो रहा है। इन निमित्तों से चिंता होना साहजिक है। किसी के पुत्र या पुत्री आज्ञापालक नहीं हैं, प्रतिकूल हैं या दुर्व्यसनी हैं, अथवा रोगी हैं या युवावस्था में मरण हो प्राप्त हो गये हैं, अथवा वे अत्यंत प्रिय और अनुकूल हैं फिर भी किसी निमित्त से उनका बिछोह हो गया है। किसी के शरीर में अनेक प्रकार के रोग लगे हुए हैं, पेट भर भोजन अथवा उत्तम-उत्तम पकवान खाने को नहीं मिल पा रहा है। डॉक्टर ने परहेज में घी, नमक आदि बन्द कर दिये हैं। इत्यादि अनेक प्रकार के और भी कारण हैं जिनसे अंतरंग में चिंता घर बनाये रखती है और मन सदैव खिन्न रहने से न उन्हें इहलौकिक सुख ही मिल पा रहा है न परलोक के सुख की ही आशा की जा सकती है क्योंकि संक्लेश परिणामों से उत्तम गति का मिलना असंभव ही है। ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए ? किसी भी चिंता को कैसे दूर कर सकते हैं ?

यदि आप सम्यग्दृष्टी हैं तो आपकी कैसी भी भयंकर चिंता क्यों न हो, दुख हो, वेदना क्यों न हो अर्थात् आपको कैसा भी शारीरिक या मानसिक संताप क्यों न हो किंतु फिर भी आप उसे बहुत शीघ्र ही घटा सकते हैं, जड़मूल से निर्मूलन करके आत्मिक शांति प्राप्त कर सकते हैं, कैसे? इन चार महौषधियों के द्वारा ।

वे चार महौषधियाँ कौन सी हैं?

कर्म सिद्धांत–अर्थात् होनी को स्वीकार करना।

वैराग्य–अर्थात् वस्तु के स्वभाव का विचार करना।

भक्ति–अर्थात् ईश्वर में विश्वास कर उनकी कृपा को प्राप्त करने का प्रयत्न करना।

अध्यात्म भावना–अर्थात् अपनी अनंत शक्ति को पहचान कर उसे विकसित करने का प्रयत्न करना।

उदाहरण के लिये देखिये–यदि आपके पुत्र, मित्र, स्त्री, बंधु या शिष्य कोई भी आपके प्रतिकूल आचरण कर रहे हों, आपके साथ विश्वासघात कर रहे हों, आपकी झूठी निन्दा कर रहे हों, आपको व्यापार आदि प्रसंगों में कष्ट दे रहे हों, आपकी उन्नति से ईर्ष्या कर रहे हों, अकारण ही आपके लिए दुःखदायी हों तो उस समय आप उनके साथ वैसे हैवान बनिये। सोचिये कि पूर्वभव में या इस भव में इनके साथ मैंने कोई गलत व्यवहार किया

होगा, इन्हें कष्ट दिया होगा उसके फलस्वरूप ये स्वजन होकर भी शत्रु बने हुए हैं। अहा अकारण ही ये मुझे त्रास देकर स्वयं अशुभ कर्म बंध कर रहे हैं मेरा कर्तव्य है कि मैं शांति से सहन करूँ। आप पार्श्वनाथ का चरित पढ़िये और जीवंधर स्वामी की भी जीवनी देखिये आपको मानसिक शांति मिलेगी। पहले तो आप इन प्रतिकूल वस्तुओं को वप्रसंगों को अपने से दूर करने की कोशिश कीजिए। यदि उनसे नहीं बच सकते तो कर्म सिद्धांतपर दृढ़ विश्वास कीजिए कि इनका कुछ भी दोष नहीं है, मेरे पूर्वकर्मों का ही फल मुझे इनके निमित्त से मिल रहा है। श्री अमितगतिसूरि ने कहा है–

स्वयं कृतं यदात्मनापुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।।

'यदि स्वयं के द्वारा किये हुए कर्मों के अतिरिक्त भी कोई अन्य मुझे सुख या दुःख देने में समर्थ हो सकता है तो फिर मेरे द्वारा किये गये कर्म व्यर्थ हो जायेंगे।' इसीलिये यह सिद्धांत अटल है कि अपने द्वारा किये हुए कर्मों का फल ही अपने को मिलता हैअन्य सब निमित्तमात्र हैं, उन्हें दोष देना व्यर्थ है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान रामचंद्र के इतिहास को पढ़िये। कहाँ तो राज्याभिषेक होने की तैयारी और कहाँकैकेयी के निमित्त से वन-वन में भटकना! महासती शिरोमणि सीता को ही देखिये कि कहाँ तो जिनके वियोग में रामचंद्र का अश्रु बहाना, दुःखी होना और कहाँप्रजा के संदेहमात्र से गर्भवती अवस्था में सीता को घोर निर्जनवन में छुड़वा देना। अहो! इष्ट के द्वारा ही ऐसे-ऐसे भयंकर कष्टों का प्रसंग आ जाना यह स्व कर्मोदय का ही माहात्म्य है अन्य कुछ नहीं है इत्यादि उदाहरणों के द्वारा अपने मन में संक्लेश न करके शांति बनाये रखना ही उभयलोक के लिये हितकर है।

यदि आपके किसी इष्ट बंधु, पुत्र, स्त्री, पति या शिष्य का वियोग हो गया है, असमय में उनका मरण हो गया है या वे आपके प्रतिकूल हो रहे हैं अथवा धन, मकान, आदि प्रिय वस्तुओं की हानि हो रही है ऐसे प्रसंग में कर्म सिद्धांत ही शांति प्रदान करेगा। अरे! जो वस्तु जितने काल तक मेरे पास रहने वाली है, उतने काल तक ही रहेगी। संसार में कोई किसी के साथ हमेशा नहीं रह सका है। हमें प्रत्येक इष्ट वस्तु अपने अनुरूप चाहिये किंतु ऐसा कब होता है ? वह तो मिलती है भाग्य के ही अनुरूप। यदि आपका भाग्य अनुकूल नहीं है तो कितना भी प्रयत्न कीजिए किंतु वह वस्तु आपको नहीं मिल सकेगी। मिलकर भी आपसे दूर हो जायेगी उसके लिये आपको चिंता करने से, दुःख करने से हानि के सिवाय लाभ नहीं है। सुकौशल की माता ने पति के दीक्षित हो जाने पर बहुत दुःख माना। पुत्र भी दीक्षित न हो जावे, मेरी आँखों से ओझल न हो जावे इसलिये उसने अपने शहर में मुनियों का आना रोक दिया किंतु जब पुत्र भी दीक्षित हो गया तो पति और पुत्र के मोह में पागल हो गई, रो-रोकर आर्तध्यान में मरकर व्याघ्री हो गई तथा जिनके प्रति अत्यंत मोह था उन्हीं के प्रति प्रतिकूलता से द्वेष भावना बन जाने

से उन्हीं को खाने लगी। इन उदाहरणों को देखकर इष्ट में आसक्ति व उनके वियोग में शोक नहीं करना चाहिए। देखो! धर्मात्मा सेठ जिनदत्त मरते समय अपनी पत्नी में अत्यंत मोह को प्राप्त हो गया, मरकर अपने घर की बावड़ी में मेढ़क हो गया और पानी भरते समय सेठानी के ऊपर उछल-उछलकर आने लगा। जब सेठानी को मुनि के मुखसे मालूम हुआ कि यह मेढ़क मेरे पति का जीव है तो उसे महान् आश्चर्य हुआ औरदुःख भी।

अतएव इस श्लोक को बड़े अक्षर में लिखकर फ्रेम में जड़वाकर अपने विश्रांति के स्थान में लगा लीजिए और प्रतिदिन उसको पढ़ते रहिये।

उत्तमा स्वात्मचिंता स्यात् , मोहचिंता च मध्यमा।
अधमा कामचिंता स्यात् , परचिंता धमाधमाः ।।

अर्थात् अपनी आत्मा की चिंता उत्तम है, मोहचिंता मध्यम है, पंचेन्द्रिय विषयों की चिंता अधम है और पर की चिंता करना अधम से भी अधम है।

इसी प्रकार जब शरीर में रोगों के निमित्त से कितनी भी भयंकर वेदना हो, उस समय सोचो क्या नरक में जैसी वेदनायें होती हैं वैसी यहां हो सकती हैं ? क्या तिर्यंच योनि के दुःखों से बढ़कर भी यह दुःख है ? नहीं-नहीं। यह तो उनके आगे तिल-तुषमात्र भी नहीं है। अन्य जीवों को दुःख देने से, पीड़ा देने से, सताने से ही ये वेदनायें होती हैं। कर्म बांधते समय, दूसरों को कष्ट देते समय मैंने जब कुछ नहीं विचारा तो अब उस कर्म के उदय के समय घबड़ाने से क्या होगा ? अभी भी ऐसा करने से तो आगे के लिए असातकर्म बंधता चला जावेगा अतः धैर्य से निर्दोष प्रासुक औषधि से रोग का उपचार करना चाहिए। श्री गुणभद्रसूरि कहते हैं–

यावदस्ति प्रतीकारः, तावत्कुर्यात्प्रतिक्रियां।
तथाप्यनुपशांताना-मनुद्वेगः प्रतिक्रिया।

जब तक इलाज हो सके इलाज करना और जब नहीं हो सके तो उद्विग्न नहीं होना ही उस रोग का इलाज है। अपने से अधिक दुःखी व रोगी जीवों की तरफ दृष्टि डालिये। जो सब तरफ से साधन हीन हैं, दीन हैं, अनाथ हैं उनकी तरफ देखिये, आपकी वेदना हलकी होगी, दुःख कम महसूस होगा।

आपको संसार के अच्छे-अच्छे भोग साधन सुखकर मालूम होते हैं या आपको स्वर्ग का वैभव, राज्य वैभव अच्छा लगता है अथवा बड़े-बड़े पद अच्छे लगते हैं तो शायद आप उन प्रलोभनों में आकर यही इच्छा करेंगे कि मुझे ये वस्तुयें भविष्य में अवश्य मिलें या आप पुनः पुनः उसके मिलने की चिन्ता करते रहेंगे किन्तु क्या आपने सोचा है कि यह भोगाकांक्षा भविष्य में दुर्गति का कारण है? देखो! जितने भी नारायण होते हैं भोगों की आकांक्षा से, निदान से ही होते हैं पुनः वे इस भव में चन्द दिनों तक अर्ध चक्रवर्ती पद के वैभव का उपभोग करके पूर्व के संस्कारवश भोगों की आसक्ति से मरकर नियम से

नरक में ही जाते हैं। दूसरी बात यह है कि आपने इतना अधिक पुण्य नहीं किया है तो आपको मनचाही इच्छित वस्तु मिलेगी ही नहीं और यदि मिल भी गई तो राख के लिये हीरे को भस्म कर देने के सदृश वह निदान भावना मूर्खतापूर्ण ही है क्योंकि जो धर्म, तप, दान या पूजन आपको त्रैलोक्य का धनी बना सकता है उससे आपने विनाशीक पुत्र, पत्नी या धन-वैभव को खरीदकर कोदों बोने के लिये चन्दनवन को जला डालने सदृश ही कार्य कर लिया है इसलिये निदान करके अपने पुण्य को क्षीणकर आप स्वयं अपने को भविष्य में दुःख के गर्त में मत डालिये। यह तो हुआ कर्म सिद्धांत का चिंतवन, यह आपके लिये महौषधि है।

अब आप दूसरी महौषधि का प्रयोग कीजिये–

कैसा भी कष्टकर प्रसंग हो, आपके इष्ट का वियोग व अनिष्ट का संयोग हो गया हो या वेदना से आप तड़प रहे हों, उस समय वैराग्य औषधि लेते ही आपका दुःख हलका हो जायेगा। संसार में जो जन्मा है वह मरेगा ही मरेगा, जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग होगा ही होगा अर्थात् जन्म के पीछे मरण, जवानी के पीछे बुढ़ापा, संयोग के पीछे वियोग, सुख के पीछे दुःख और सम्पत्ति के पीछे विपत्ति नियम से आती ही आती हैं। संसार की स्थिति यही है तथा इस जगत में है कौन किसका ? अनादिकाल से लेकर अब तक अनंतानंत काल व्यतीत हो गया है, इस जगत में कौन ऐसा जीव है जो मेरी माता नहीं हुआ, मेरा पिता नहीं हुआ, पुत्र, मित्र या शत्रु नहीं हुआ है। अथवा मैं किसी का मित्र या शत्रु नहीं हुआ हूँ फिर भला अब किससे प्रेम करना? किसको अपना समझना? अथवा किससे द्वेष करना या किसको अपना शत्रु समझना? संसार तो इसी का नाम है तथा शरीर जो मेरा है, मेरे आत्मप्रदेशों से एकमेक हो रहा है, क्या वह मेरा है? यदि है तो मेरे अनुकूल क्यों नहीं है? मेरे साथ क्यों नहीं जाता है? यदि एक दिन इसे भोजन न मिले तो यह मेरे कार्य में विघ्न क्यों डाल देता है अथवा मुझे पूर्णतया जवाब दे देता है फिर यह मेरा कैसे है? यह तो महाकृतघ्नी है। असंख्य रोगों का घर है, दुःखों की खान है और इसी के मोह में तो जीव अनंत संसार में परिभ्रमण करते हैं।

इस श्लोक को प्रतिदिन पढ़िये और अपने उठने-बैठने के स्थान पर (ऊँचे पर) इसे लिखकर टाँग दीजिये। श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि–

यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकं।
यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकं।।

अर्थात् जिस कार्य से जीव का उपकार होता है उससे शरीर का अपकार होता है और जिससे शरीर का उपकार होता है उससे जीव का अपकार होता है।

इत्यादिरूप से संसार और शरीर का विचार करते हुए संसार के भोगों को भी किंपाक फल के समान देखने में ही मधुर समझना क्योंकि ये भोग हालाहल विष से

भी भयंकर हैं ऐसी भावना भाना नित्य ही 'वैराग्य भावना' और कोई एक 'बारह भावना' का पाठ करना। देखिये, आपको शारीरिक और मानसिक शांति का अनुभव अवश्य होगा।

तृतीय महौषधि भक्ति है। व्यक्ति के मन में जब तक किसी सुन्दर आदर्श के प्रति या किसी महान व्यक्ति के प्रति श्रद्धा और प्रेम के स्थायी भाव नहीं होते, तब तक दुराचार से हटकर सदाचार में उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। संसार में जिनेन्द्रदेव एक महान आदर्श हैं। उनके प्रतीक दिगम्बर जैन आचार्य, उपाध्याय और साधु भी महान आदर्श हैं। अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंच परमेष्ठियों को आदर्श मानकर इनकी भक्ति करना। संकट के समय इनकी पूजा, उपासना, आराधना, जाप्य आदि करना वैसे ही है कि जैसे दावानल अग्नि के बुझाने में मेघ की वर्षा। यदि आप अधिक व्याकुलता में कुछ भी करने में असमर्थ हैं तो भी विश्वास के साथ मन-मन में णमोकार मंत्र जपते ही रहिये। यदि पूरा मंत्र नहीं जप सकते तो इतना अवश्य जपिये 'अरहंत सिद्ध, भव रोग वैद्य' यह मंत्र रामबाण औषधि है, अमोघ मंत्र है, यह निरर्थक हो ही नहीं सकता है। आपके अशुभ कर्मों के पर्वत सौ-सौ खंडरूप हो जावेंगे, असाता कर्म गल-गलकर समाप्त हो जावेंगे। कैसा संकट क्यों न हो, उससे आप छुटकारा पा लेंगे। सभी आस्तिकवादी दुःखों के नाश हेतु अपने इष्टदेव का स्मरण स्वीकार करते हैं यहाँ तक कि नास्तिक लोग भी प्रार्थना करते हैं और उससे संकट का नाश, इच्छित की प्राप्ति होना स्वीकार करते हैं। फिर जब आप सच्चे वीतराग देव की सच्चे मन से जाप्य करेंगे तो आपके दुःख दूर क्यों नहीं होंगे? निर्जन वन में, श्मशान में, समुद्र में, युद्ध भूमि में, सिंह और डाकू वगैरह के समीप आने पर भी यह महामंत्र आपकी रक्षा करने में पूर्णतया सक्षम है। श्रीमानतुंगाचार्य के भक्तामर स्तोत्र के प्रभाव से 48 ताले टूट गये, सीता की जिनेन्द्र भक्ति ने अग्नि को जल बना दिया, चंदना की बेड़ी टूट गई, श्रीपाल ने समुद्र को पार कर लिया और अनंतमती ने अपने शील की रक्षा कर ली। अनेक उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है, पढ़िये महापुरुषों के इतिहास को और अर्हंतदेव की भक्ति में तन्मय हो जाइये, फिर देखिये क्या नहीं होता है? सब कुछ सिद्ध होगा, यहाँ तक कि आप भक्ति करते-करते भक्त ही नहीं रहेंगे, किंतु एक न एक दिन स्वयं भगवान बन जायेंगे तब संसार के सर्व दुःखों से सदा-सदा के लिये छूट जायेंगे।

अब चतुर्थ औषधि का प्रयोग कीजिए यह है 'अध्यात्म-भावना' यह सर्व दुःखों को जड़मूल से नष्ट करने वाली है। अनादिकाल से मेरी आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध हो रहा है फिर भी शुद्ध निश्चयनय से मेरी आत्मा ज्ञानदर्शनस्वरूप है, एक है, शुद्ध है, पुद्गल का एक परमाणु मात्र मेरा नहीं है। मेरे में अनंतदर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य ये चतुष्टय विद्यमान हैं, मैं अनंतगुणों का पुँज हूँ, परमानंद स्वरूप हूँ, सिद्ध हूँ, ये कर्मजन्य पर्यायें मेरी आत्मा की नहीं हैं अर्थात् मैं नारकी, तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव नहीं हूँ। मैं स्त्री, पुरुष या नपुंसक नहीं

हूँ। मैं बाल, वृद्ध या युवा नहीं हूँ। मैं पंडित, मूर्ख, कुरूप, सुरूप, धनी, निर्धनआदि नहीं हूँ किंतु मैं चित्चैतन्य स्वरूप हूँ, परंज्योति स्वरूप हूँ। अनादिकाल से मिथ्यात्वोदय निमित्त से मैंने अपने आप को नहीं पहिचाना इसीलिये शरीर को ही आत्मा मानकर बहिरात्मा बना रहा। अब मैं जिनेन्द्रदेव की कृपाप्रसाद से सम्यक्त्व निधि को पाकर संतुष्ट हो गयाहूँ। मेरी रत्नत्रय निधि ही मेरी अटूट सम्पत्ति है। मैं अनंत शक्तिमान हूँ इत्यादि भावना केभाने से यह आत्मा अपने आप को दुःखी, दीन, रोगी, असमर्थ या अस्वस्थ नहीं समझता है प्रत्युत् उतने क्षण तो अपने आपको कर्म बंधन से रहित, संसार दुःखों से रहित समझने लगताहै। यही भावना आगे चलकर जब दृढ़ हो जाती है तभी यह आत्मा अंतरात्मा होता हुआ एकदेशऔर पूर्ण चारित्र को ग्रहण कर अपने आपको साधु, आचार्य, उपाध्याय बना लेता है, जगद्वंद्य पूज्य हो जाता है पुनः क्रम-क्रम से शक्ति संचित करके परमात्मा बन जाता है। वास्तव में जो भी हमारी संसारी अवस्था है वह व्यवहारनय का विषय है, निश्चयनय तो वस्तु के सहज स्वभाव का ही वर्णन करता है। इस प्रकार से इष्टवियोग आदि प्रसंगों पर या वेदनाआदि के समय अथवा अनिष्ट उपद्रव, उपसर्गों के समय इस अध्यात्म भावना के अवलंबन से ही आत्मा में एक प्रकार का आनंद उत्पन्न होता है। वह आनंद क्षणमात्र में तमाम कर्म ईंधन को भस्मसात् कर देता है जिससे इस लोक में भी शारीरिक वमानसिक शांति मिल जाती है और परलोक में तो स्वर्ग व परंपरा से मोक्ष निश्चित ही है। इस अध्यात्म भावना में आत्मा की भक्ति होती है। ध्यान सूत्रों को पढ़ते हुए भी इसे भाना चाहिए। अध्यात्म भावना के बिना ध्यान की सिद्धि असंभव है अतः इसका अवलंबन लेना ही चाहिए। इस भावना से यह जीव शरीर से निर्मम हो जाता है अतः उस पर आये दुःखों को सहने का आदी हो जाता है बल्कि वह उपवास, कायक्लेश आदि द्वारा दुःखों को बुला-बुलाकर अध्यात्म की भावना भाता है क्योंकि समाधिशतक में कहा है कि–

अदुःखभावितं ज्ञानं, क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद् यथाबलं दुःखै-रात्मानं भावयेन्मुनिः।।

अर्थात् सुखिया जीवन में किया गया तत्त्व का अभ्यास दुःख के आ जाने पर पलायमान हो जाता है अतएव मुनि दुःखों में भी आत्मा की भावना करे यह परमौषधि है।

यदि किसी के प्रति आपने असीम उपकार किये हैं किंतु उनका बदला वह अपकार से चुका रहा है अथवा उन उपकारों को अपकार ही मान रहा है या वह आपके उपकारों को मानने को तैयार नहीं है तो न सही। आप तो सोचिये कि मैंने उसका कुछ नहीं किया है, उसके उत्तम भाग्य से ही उसका भला हुआ है, मैं तो एक निमित्तमात्र था ऐसा सोचकर आप अहंकार व कर्तृत्व की बुद्धि को दूर कीजिए। यदि उसके अशुभ कर्म का उदय होता तो आपके द्वारा किये गये उपकारों का निमित्त उसे नहीं भी मिलता इत्यादि। दूसरी बात यह है कि श्री भट्टाकलंकदेव ने भी कहा है कि 'कृतज्ञता गुण–किये हुये के उपकार को मानना' यह गुण अत्यन्त दुर्लभ है जैसे निगोद से स्थावर होना अत्यंत कठिन है पुनः

स्थावर से त्रस पर्याय मिलना कठिन है, पुनः त्रस में भी विकलत्रय जीवों की बहुलता होने से पंचेन्द्रिय पर्याय पाना उतना ही कठिन है जितना कि गुणों में कृतज्ञता गुण मिलना कठिन है।

अथवा यदि अकारण ही कोई आपके प्रति द्वेष कर रहा है, आपकी झूठी निंदा या अवर्णवाद कर रहा है या आपके प्रति बुरा कर रहा है तो भी आपको कर्म सिद्धांत का विचार करते हुए उस पर क्षमा भाव रखना ही उचित है। आप जीवंधर के जीवन चरित्र को पढ़कर काष्ठांगार की कृतघ्नता का उदाहरण सामने रखिये और उस कुत्ते के द्वारा जीवंधर स्वामी के प्रति किये गये प्रत्युपकार को भी देखिये एवं व्यावहारिक जनों की सूक्ति का भी विचार कीजिए कि 'नेकी कर कुएँ में डाल'। इस सूक्ति से भी आपको क्लेश नहीं होगा।

इस तरह से जितने भी संक्लेश के कारण हैं, वे सब आर्तध्यान के ही अंदर आ जाते हैं तथा जितने भी बुरे विचार हैं, वे सब रौद्रध्यान में गर्भित हो जाते हैं। जैसे प्रिय वस्तुओं के प्राप्त करने की चिंता, नष्ट हो जाने पर उनके मिलने की बार-बार उत्कंठा, चिंता, अप्रिय वस्तुओं के मिल जाने पर उनसे दूर होने की चिंता या अप्रिय समागम न होने की भावना, रोगजनित पीड़ा से बेचैनी व पंचेन्द्रियों के विषयों की आकांक्षा, उनके प्राप्त होने की चिंता-उपाय आदि ये सब आर्तध्यान हैं। किसी को अप्रिय शत्रु समझकर उनके मारने, नष्ट करने आदि की चिंता, असत्य, मायाचारी आदि के द्वारा दूसरों को वंचित करने की चिंता, किसी की वस्तु को अपहरण करने की चिंता या परिग्रह के अर्जन, संरक्षण आदि की अधिक चिंता ये सब रौद्रध्यान हैं, इनसे छूटने के उपायों में जो चार कारण बताये हैं-कर्म सिद्धान्त विचार, वैराग्य भावना, भक्ति भावना और अध्यात्म भावना, ये चारों ही उपाय चारों धर्मध्यान में गर्भित हैं। कर्म सिद्धांत विपाकविचय नामक तृतीय धर्मध्यान में, वैराग्य भावना अपायविचय में, भक्ति भावना आज्ञाविचय में और अध्यात्म भावना आज्ञाविचय तथा संस्थान धर्मध्यान में ही गर्भित हैं अर्थात् ये चारों धर्मध्यान ही क्रम से सभी दुर्ध्यानों को समाप्त करके मानसिक, आत्मिक शांति देने में समर्थ हैं।श्री अमितगतिसूरि कहते हैं–

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।

इसी प्रकार से सब जीवों के प्रति मैत्री भाव, गुणीजनों में प्रमोद, दुःखी जीवों के प्रति करुणा और विपरीत वृत्ति वालों के प्रति मध्यस्थभाव ये चार भावनायें भी हमेशा अपको सुख-शांति प्रदान करने वाली हैं, इनको भी नित्य ही भाते रहिये।'

आपका जीवन सदाचारी होना चाहिए। इसके लिए जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरा पीना, वेश्या सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन करनाये सात व्यसन नरक के द्वार हैं, इन्हें सबसे पहले गुरू की साक्षी से त्याग कर देना और मिथ्यात्व

का सर्वथा त्याग करके सम्यक्त्व को ग्रहण कर लेना पुनः संकल्पी हिंसा का त्याग, असत्य का त्याग, चोरी का त्याग, कुशील का त्याग और परिग्रह का परिमाण इन पाँच अणुव्रतों को धारण कर लेना चाहिए क्योंकि ये अणुव्रत नियम वे देवगति के ही कारण हैं। अणुव्रत धारण के पश्चात् यह जीव नरक, तिर्यंच और मनुष्य गति में नहीं जा सकता है तथा देवपूजा, गुरू की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन छह आवश्यक क्रियाओं को नित्य करना। इन छहों में भी **'दाणं पूजा मुक्खो सावयधम्मो ण सावया तेण विणा'** इस कुंदकुंददेव की वाणी के अनुसार दान और पूजा को श्रावक का मुख्य कर्तव्य मानकर अवश्य करना चाहिए क्योंकि इनके बिना श्रावक नहीं हो सकता है।

इसी प्रकार महिलाओं को भी उपर्युक्त कथित अनुसार चिंतायें छोड़नी चाहिए। यदि आपकी सास या आपके पति अथवा पुत्र या पुत्रवधुयें, पुत्रियाँ आदि अनुकूल नहीं हैं तो भी उनके साथ उचित व्यवहार करते हुए आप मन में शांति धारण करें क्योंकि ये चंद दिनों के सम्बन्ध हैं। प्रत्येक जीव अकेला ही आया है और अकेला ही जायेगा अतः किसीके लिए संक्लेश या चिंता करके अपने स्वास्थ्य और परलोक को मत बिगाड़िये। आत्मा स्त्री नहीं है, पुरुष या नपुंसक भी नहीं है, वह तो शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध, सिद्धसदृश है उसी का अवलंबन लेकर पराधीन स्त्री पर्याय से छूटने का उपाय कीजिए। यदि आपको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है तो नियम से अब स्त्रीपर्याय को नहीं प्राप्त करेंगी। अपने शीलधर्म को तीन लोक में श्रेष्ठ रत्न समझिये। क्षणिक भौतिक चमत्कार व प्रलोभनों में पड़कर अपने शीलरत्न को मत गंवाईये। हमेशा सीता, अंजना, चंदना, अनंतमती आदि के उदाहरण सामने रखिये। पति और पुत्रों को धर्मनिष्ठ बनाने में चेलना बनिये। निर्धनता, बीमारी आदि संकट के समय धैर्य न छोड़िये। स्त्री पर्याय को सर्वथा निंद्य समझकर खेद करना, पराधीनता रूपि पिंजड़े में बंद रहना अथवा आधुनिक वातावरण से प्रभावित होकर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करना ये सभी बातें ठीक नहीं हैं। तीर्थंकर की मातायें, चंदना आदि सतियाँ ये भी महिलाएँ थीं फिर भी ये गुणों की खान मानी जाती हैं। पुरुष तो क्या, देव इंद्र भी इनके सामने नत हुए हैं। महासती सीता ने आर्यिका दीक्षा लेकर भगवान रामचंद्र को भी नत कर दिया था उन्होंने भी आर्यिका वेष में सीता को नमस्कार किया था अतः अपने को हीन-दीन भी मत समझिये और स्वैरवृत्ति करके अपने कुल को, धर्म को कलंकित भी मत कीजिए। चारों प्रकार के अनुयोगों का हमेशा स्वाध्याय करके अपने ज्ञान को निर्मल कीजिये। सुख और वैभव को पाकर भूलिये मत और दुःख तथा विपत्ति के समय घबड़ाइये मत। अपना संतुलन बनाये रखिये और हमेशा प्रसन्नचित्त व प्रसन्नमुख रहिये फिर देखिये, आपको कितनी शांति मिलेगी।

G G G G G

प्रवचन–9

गुरुभक्ति की महिमा

गुरुभक्त्या वयं सार्ध-द्वीपद्वितयवर्तिनः।
वंदामहे त्रिसंख्योन, नवकोटिमुनीश्वरान् ।।

ढाईद्वीप में तीन कम नव करोड़ मुनिराज हैं, उन सभी को गुरुभक्तिपूर्वक मेरा नमस्कार होवे।

गुरुभक्ति से क्या होता है? आचार्यों ने बताया है–

''गुरुभक्ति संजमेण य, तरंति संसार सायरं घोरं''

'गुरुभक्ति से संयम प्राप्त होता है जो हमें घोर संसार सागर से पार कराने में सहायक है।' ऐसी गुरुभक्ति इस पंचमकाल में भव्य श्रावकों के लिए कल्पवृक्ष के समान फल को देने वाली है। यह नियम है कि जब तक धर्म है, तब तक गुरु हैं और जब तक गुरु हैं, तब तक धर्म है। परस्पर में दोनों का संबंध जुड़ा हुआ है।

तिलोयपण्णत्ति नामक ग्रंथ में वर्णन आया है कि–

भगवान पुष्पदंत से लेकर भगवान धर्मनाथ तक तीर्थंकरों के तीर्थकाल में कुछ काल ऐसा गया है कि जिसमें धर्मरूपी सूर्य अस्त हो गया और वह सूर्य कैसा था? चतुर्विध संघरूप। यह नियम है कि मुनि–आर्यिका नहीं होंगे तो श्रावक–श्राविका नहीं होंगे। चतुर्विध संघ ही धर्मरूपी सूर्य है, जिसकी परम्परा भगवान ऋषभदेव के समय से चली आ रही है। प्रयाग नगरी जो आज आपको महाकुंभ का एक तीर्थ दिख रहा है, वह प्रयाग सर्वप्रथम धर्मरूपी सूर्य अर्थात् चतुर्विध संघ से ही प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ था। **''प्रकृष्टो वा कृतस्त्यागः प्रयागस्तेन कीर्तितः''** भगवान ऋषभदेव ने वहाँ प्रकृष्ट रूप से त्याग किया था, दीक्षा ली थी और वहीं उन्हें वटवृक्ष के नीचे 1000 वर्ष की तपस्या के बाद केवलज्ञान हुआ था इसलिए वह प्रयाग कहलाया, तब वहीं चतुर्विध संघ की व्यवस्था बनी। पुरिमतालपुर के राजा ऋषभसेन जो कि भगवान ऋषभदेव के ही तृतीय पुत्र थे, ने वहीं मुनि दीक्षा ली थी और भगवान के समवसरण में प्रथम गणधर का पद प्राप्त किया था, उनकी बड़ी पुत्री ब्राह्मी ने सर्वप्रथम आर्यिका दीक्षा लेकर गणिनी पद प्राप्त किया था, तब चतुर्विध संघ बना था, वही परम्परा आज भगवान महावीर के शासनकाल तक चली आ रही है और आगे भी चलती रहेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक मुनिधर्म है, मुनि, आर्यिकाएँ, क्षुल्लक, क्षुल्लिकाएँ हैं, श्रावक–श्राविकाएँ हैं, तब तक धर्म परम्परा चलती रहेगी। आचार्यों ने उस चतुर्विध संघ की भक्ति आदि की महिमा का वर्णन करते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में बताया है–

उच्चैर्गोत्रं प्रणते, र्भोगो दानादुपासनात् पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं, स्तवनात् कीर्तिः तपोनिधिषु।।

अर्थात् उन महामुनियों, आर्यिकाओं, क्षुल्लक–क्षुल्लकादि पिच्छीधारी साधुओं को नमस्कार करने से उच्च गोत्र प्राप्त होता है, उनको दान देने से इस भव में तथा परभव में उत्तम-उत्तम सामग्री प्राप्त होती है, उनकी उपासना करने से सब लोगों का आदर प्राप्त होता है और उनकी भक्ति करने से सुन्दर रूप प्राप्त होता है। ऐसे तपोनिधि साधुओं की स्तुति करने से कीर्ति, प्रशंसा की प्राप्ति होती है और अयशस्कीर्ति का नाश होता है। गुरुभक्ति की एक छोटी सी घटना याद आती है–

कौशाम्बी में राजा अतिबल राज्य करते थे, उनके पुरोहित सोमशर्मा के अग्निभूति और वायुभूति ऐसे दो पुत्र थे। माता-पिता के दुलार के कारण वे दोनों अनपढ़ रह गए। कालचक्र के प्रभाव से असमय में ही सोमशर्मा की मृत्यु हो गई। पुरोहित पुत्रों को वज्रमूर्ख देख राजा अतिबल ने उन्हें पुरोहित पद न देकर किसी अन्य विद्वान को दे दिया तब उसे अपमान समझ दोनों भ्राताओं को अत्यधिक दुःख हुआ और उनमें पढ़ने की इच्छा जगी, अतः वे अपने मामा सूर्यमित्र के पास राजगृही गए और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। इनकी अध्ययन की प्रबल आकांक्षा देखकर मामा ने स्वयं उन्हें विद्याभ्यास प्रारंभ कराया एवं थोड़े समय में ही प्रकाण्ड विद्वान बना दिया पुनः ये अपने नगर लौट आए एवं राजा अतिबल को अपनी विद्वता का परिचय कराकर पुरोहित पद पर प्रतिष्ठित हो गए। वास्तव में संसार में विद्या कामधेनु के समान मानी गई है।

एक दिन संध्याकाल में सूर्यमित्र सूर्य को अर्घ्य चढ़ा रहा था कि उसकी अंगुली से राजकीय रत्नजटित अंगूठी निकलकर महल के नीचे तालाब में जा गिरी, पूजा के पश्चात् जब उसकी दृष्टि अंगुली पर पड़ी तब उसे ज्ञात होते ही कि 'राजमुद्रिका कहीं गिर गई' वह भय से काँप उठा। तब किसी से सुनकर वह अवधिज्ञानी मुनिराज सुधर्म के समीप गया और करबद्ध हो अंगूठी के विषय में जिज्ञासा व्यक्त की, तब मुनि ने बताया कि सूर्य को अर्घ्य देते समय तालाब में खिले हुए एक कमल में वह अंगूठी गिरी है एवं प्रातः सूर्योदय होते ही कमल के खिलने के साथ ही मिल जाएगी, वह अगले दिन मुनि के कहे अनुसार मिल गई, तब सूर्यमित्र ने आश्चर्यचकित होते हुए यह सोचा कि मुझे भी यह विद्या सीखना चाहिए। यह विचारकर वह सुधर्म मुनि के पास जाकर नमस्कार कर बोला– मुझे भी आप यह विद्या सिखा दीजिए तो महान कृपा होगी। मुनि ने कहा– मुझे यह विद्या सिखाने में कोई इंकार नहीं है पर बिना जिनदीक्षा लिए यह विद्या नहीं आ सकती। तब सूर्यमित्र मात्र विद्या के लोभ में दीक्षा ले मुनि हो गया। सुधर्म मुनि ने सूर्यमित्र को मुनियों के आचार के शास्त्र तथा सिद्धान्त पढ़ाए, जिससे उसकी आँखें खुल गयीं। गुरुउपदेशरूपी दीपक द्वारा अपने हृदय के अज्ञान अंधकार को नष्ट कर वह जैनधर्म के प्रकाण्ड विद्वान हो गए। जिनका क्षयोपशम अच्छा होता है, पूर्व पुण्य होता है उन्हें ज्यादा सिखाना नहीं पड़ता। आर्यिका रत्नमती माताजी ने जब दीक्षा ली, वह अत्यन्त वृद्ध थीं और ज्यादा

पढ़ी-लिखी नहीं थीं लेकिन मैंने उन्हें कुछ नहीं सिखाया और उन्हें स्वयं सामायिक आदि आ गई और अच्छे से अच्छा स्वाध्याय करने लगीं। प्रायः कितनों को बहुत दिन तक पढ़ाना पड़ता है, यह अपना-अपना क्षयोपशम है।

देखो! सूर्यमित्र यह चिन्तन करते थे–

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः।।

यह तत्त्वज्ञान होने के बाद उन्होंने चौरासी लाख योनियों में खोई अपनी आत्मा को प्राप्त कर लिया, तब गुरु के द्वारा विद्या सिखाने हेतु पूछने पर कहते हैं कि मुझे वास्तविक ज्ञान मिल गया है अतः यह क्षणिक विद्या नहीं सीखनी है। बारह भावनाओं में धर्म भावना में कहा है–

धन कन कंचन राजसुख, सबहि सुलभ करि जान।
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान।।

अर्थात् धनसंपदा, स्त्री, स्वर्णादि व राज्यसुख इनकी प्राप्ति तो सुलभ है किन्तु इस संसार में यथार्थज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है। सूर्यमित्र मुनि यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर एक बार विहार करते हुए कौशाम्बी नगरी आए, तब अग्निभूति ने उन्हें भक्तिपूर्वक आहार कराया और वायुभूति की धर्म में रुचि जागृत करने हेतु मुनिराज की वंदना करने को कहा परन्तु उसका फल उल्टा हुआ। क्रोधित वायुभूति ने मुनि की मिथ्या आरोपों से निंदा कर बहुत भला-बुरा कहा और समझाने पर भी नहीं माना।

शास्त्रों में लिखा है कि जो साधु को पिच्छी दान देता है वह पुत्रवान और चिरायु होता है, कमण्डलु देने से नीरोगी–स्वस्थ होता है और पवित्रात्मा कहलाता है। आर्यिकाओं और क्षुल्लक आदि को वस्त्र देने से सुख-सम्पन्नता मिलती है और क्रम से शुक्लध्यान की प्राप्ति होती है एवं शास्त्रदान से ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिए लोग साधुओं को यह दान प्रदान करते हैं, इसकी महिमा ही विशेष है।

अग्निभूति को वायुभूति के द्वारा मुनि का अपमान करने से बड़ा दुःख हुआ और वह मुनि के साथ वन में चला गया। वहाँ गुरु से धर्मोपदेश सुनकर वैराग्य हो जाने से दीक्षा लेकर तपस्वी बन गया। यह सूचना पाकर उसकी शीलवती स्त्री सोमदत्ता बड़ी दुःखी हुई और वायुभूति से कहा कि तुमने मुनि की वंदना न करके अपमान किया जिससे दुखी होकर वह मुनि बन गए। यदि वे मुनि न हुए हों तो चलो हम उन्हें समझाकर वापस ले आवें। तब उस पापात्मा ने यह सुनकर क्रोधित हो अपशब्द कहते हुए भाभी को लात मारी और चला गया। सोमदत्ता को उसके व्यवहार से गहरा आघात लगा पर अबला होने के कारण वह कुछ न कर सकी, तब उसने मन ही मन निश्चय किया 'जिस पैर से तूने मुझे स्त्री होने के कारण मारा है, उसका बदला मैं अभी तो न ले सकी, पर अगले जन्म में अवश्य लूँगी। कभी मैं तेरे इस पैर को खाऊँगी तभी मुझे संतोष होगा।' ये वैर और स्नेह के संस्कार जन्म-जन्मान्तर तक चलते हैं। कालान्तर में वायुभूति सुकुमाल

मुनि हुए और भाभी का जीव सियारनी हुआ और उसने मुनि को ध्यान करते हुए देखकर पूर्व भव के वैर से उनके पैर को खाया।

देखो! लौकिक स्वार्थवश भी दीक्षा लेने से सूर्यमित्र एक दिन केवली बन गए, उन्होंने लौकिक स्वार्थ से गुरुभक्ति की थी फिर भी उनके लिए फलीभूत हो गयी ऐसी इस गुरुभक्ति की महिमा है। शास्त्रों में वर्णन आया है कि प्रयाग में नमि-विनमि ने भगवान ऋषभदेव से राज्य माँगते हुए धरना दे दिया और नाना प्रकार से भगवान ऋषभदेवकी भक्ति की, तब वनदेवता का आसन काँपा और उन्होंने उस भक्ति को फलीभूत कर उन्हेंविद्याधरों का राजा बना दिया। वास्तव में गुरुभक्ति मिश्री के समान सदैव फलदायी होती है।

मैंने चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी के पास रहकर उनकी कठोर तपश्चर्या, संयम, सच्ची तपस्या, निश्छल जीवन एवं अनुशासन आदि को देखा है। ऐसे गुरुओं की भक्ति कर आप सब अपने जीवन को सफल करते हुए एक दिन परम पूज्य पद को प्राप्त करें, यही मंगल आशीर्वाद है।

G G G G G

पुण्य से क्या-क्या मिलता है?

पुण्यात् सुखं न सुखमस्ति विनेह पुण्यात्,
बीजाद्विना न हि भवेयुरिह प्ररोहाः।
पुण्यं च दानदमसंयमसत्यशौच-
त्यागक्षमादि शुभचेष्टितमूलमिष्टम्।।
पुण्यात् सुरा सुरनरोरग भोगसाराः,
श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयो धीः।
साम्राज्यमैन्द्रमपुनर्भवभावनिष्ठम्,
आर्हन्त्यमन्त्यरहिताखिल सौख्यमग्र्यम्।।

इस संसार में पुण्य से ही सुख प्राप्त होता है। जिस प्रकार बीज के बिना अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार पुण्य के बिना सुख नहीं हो सकता। दान देना, इंद्रियों को वश में करना, संयम धारण करना, सत्य बोलना, लोभ नहीं करना और क्षमाभाव धारण करना आदि शुभ चेष्टाओं से अभिलषित पुण्य की प्राप्ति होती है।

सुर, असुर, मनुष्य और नागेन्द्र के अभिलषित भोग, लक्ष्मी, दीर्घायु, अनुपमरूप, समृद्धि, उत्तम वाणी, चक्री का साम्राज्य, इन्द्रपद, जिसे पाकर फिर संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता, ऐसा अरहंत पद और अंतरहित समस्त सुखदायी श्रेष्ठ निर्वाणपद, इन सभी की प्राप्ति एक पुण्य से ही होती है।

–भगवज्जिनसेनाचार्य

प्रवचन–10

दान की महिमा

भव्यात्माओं! आचार्यों ने श्रावकों के 1. देवपूजा 2. गुरुपास्ति 3. स्वाध्याय 4. संयम 5. तप और 6. दान ये षट् आवश्यक कर्तव्य बताए हैं। उनमें भी आचार्य कुन्दकुन्द ने **'दाणं पूजा मुक्खो'** दान और पूजा को मुख्य बताया है। आज मैं आपको दान के विषय में विस्तार से बताती हूँ–

जो अपने और दूसरों के उपकार के लिए दिया जाता है उसे दान कहते हैं। जिससे अपना भी कल्याण हो और अन्य मुनियों के रत्नत्रय–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उन्नति हो, वही दान है। गृहस्थों को विधि, देश, द्रव्य, आगम, पात्र और काल के अनुसार दान देना चाहिए। जैसे मेघों से बरसा हुआ पानी भूमि को पाकर विशिष्ट फल देने वाला हो जाता है वैसे ही दाता, पात्र, विधि और द्रव्य की विशेषता से दान में भी विशेषता आ जाती है।

जो प्रेमपूर्वक देता है, वह दाता है। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से विभूषित हैं, वे ही पात्र हैं। आदरपूर्वक देने का नाम विधि है और जो तप तथा स्वाध्याय में सहायक हो, वही द्रव्य है।

सज्जन पुरुष तीन प्रकार से अपने धन को खर्च करते हैं। 'परलोक में हमें सुख प्राप्त होगा' कोई इस बुद्धि से अपना धन खर्च करते हैं। कोई इस लोक में सुख-यश आदि की प्राप्ति के लिए ही धन का दान करते हैं और कोई उचित समझकर ही धन खर्चते हैं किन्तु इससे विपरीत जिन्हें न परलोक का ध्यान है, न इहलोक का ध्यान है और न औचित्य का ही ध्यान है वे न धर्म कर सकते हैं, न अपने लौकिक कार्य कर सकते हैं और न यश ही कमा सकते हैं।

अन्यत्र भी सूक्तिकारों ने धन की तीन ही गति मानी है–

'दानं भोगो नाशः, तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुक्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति।।'

दान, भोग और नाश, धन की ये तीन ही गति हैं। जो न दान देता है और न उपभोग ही करता है उसके धन का 'नाश' हो जाना यही तीसरी गति होती है। तात्पर्य यही है जो अपने धन को पात्र दान आदि सत्कार्यों में लगा देते हैं वे तो अपने धन को इस लोक में भी बहुत काल तक स्थायी रहने वाला बना लेते हैं और परलोक में नवनिधि आदि के रूप में अनेक गुणा प्राप्त कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त जो बड़े श्रम से धन कमाकर अपने गार्हस्थ जीवन के भोगों में ही लगा देते हैं वे तत्काल में तो कुछ उसका

उपयोग कर ही लेते हैं भविष्य में उसका फल भले ही कटुक ही क्यों न हो किन्तु जो न देते हैं न खाते हैं उनके धन को चोर या डाकू लूट लेते हैं या दामाद के लोग छीन लेते हैं या सरकार के टैक्स चुकाने में लगाना पड़ता है या कोर्ट-कचहरी के झगड़े में ही समाप्त हो जाता है। मतलब, किसी न किसी तरह से 'नाश' हो जाना, यही उसकी गति होती है। इसीलिए महर्षियों ने बुद्धिमान गृहस्थों को अपने धन का सही सदुपयोग करने के लिए दान का विधान किया है।

दान के चार भेद हैं–अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान। ये चारों दान अपनी शक्ति और श्रद्धा के अनुसार देना चाहिए। अभयदान से सुन्दर रूप मिलता है, आहारदान से भोग मिलते हैं, औषधदान से आरोग्य प्राप्त होता है और शास्त्रदान से श्रुतकेवली होता है।

सबसे प्रथम सब प्राणियों को अभयदान देना चाहिए, क्योंकि जो अभयदान नहीं दे सकता उस मनुष्य की समस्त पारलौकिक क्रियाएं व्यर्थ हैं और कोई दान दो या न दो, किन्तु अभयदान जरूर देना चाहिए क्योंकि सर्व दानों में अभयदान श्रेष्ठ है। जो अभयदान को देता है, वह सब शास्त्रों का ज्ञाता है, परमतपस्वी है और सब दानों का कर्ता है। प्राणीमात्र का भय दूर करके उनके जीवन की रक्षा करना अभयदान है। जीवन की रक्षा सब चाहते हैं अर्थात् सभी को अपना-अपना जीवन प्रिय है। यदि जीवन पर ही संकट हो तो आहारदान या औषधदान या शास्त्र-दान किस काम का? जो मनुष्य अपने से दूसरों की रक्षा नहीं कर सकता, वह यदि परलोक के लिए धर्म कर्म करे भी तो वह सब व्यर्थ है क्योंकि धर्म का मूल जीव रक्षा है। यदि मूल ही नहीं तो धर्म कहाँ से रह सकता है? अतः प्राणीमात्र को यथाशक्ति जीवनदान देना ही सर्वोत्तम दान है।

श्री सोमदेवसूरि ने दान के चार भेद में पहले अभयदान को लिया है। श्री समंतभद्र स्वामी ने शिक्षाव्रत के अंतिम भेद को 'वैयावृत्य' शब्द से लिया है। उस वैयावृत्य में चार प्रकार के दान का उपदेश दिया है। उनका क्रम ऐसा है–आहारदान, औषधदान, उपकरणदान और आवासदान। उपकरणदान में ही ज्ञान का उपकरण शास्त्रदान आ जाता है और आवासदान से अभयदान आ जाता है। मुनियों के लिए वसतिका दान देना आवासदान है। पूर्वकाल में श्रावक मुनियों के लिए गुफा या वसतिका बनवाते थे। उनके उदाहरण एलोरा आदि स्थानों की गुफाएं हैं। भगवती आराधना में भी मुनियों को वसतिका में रहने का वर्णन आया है। सल्लेखना के समय वसतिका गांव के निकट हो या खुले स्थान पर हो, अंदर भी उसमें प्रकाश हो और मलमूत्रादि विसर्जन के लिए मर्यादित स्थान हो, ऐसा बताया गया है। मूलाचार में भी बताया है कि मुनि आगंतुक मुनि के लिए वसतिका दान देवें।

सात गुणों से युक्त दाता नवधाभक्तिपूर्वक जो साधुओं को अन्न-पान आदि शुद्ध

आहार देता है, वह आहारदान कहलाता है। नवधाभक्ति क्या है? प्रतिग्रह, उच्चस्थान, चरणप्रक्षालन, अर्चन, प्रणाम, मन-वचन-काय शुद्धि और भोजन शुद्धि ये नवधाभक्तिहैं।

सबसे पहले अपने द्वार पर मुनि को आते हुए देखकर उन्हें आदरपूर्वक ग्रहण करना–पड़गाहन करना प्रतिग्रह है। यथा–हे स्वामिन्! अत्र तिष्ठ तिष्ठ.....यदि वे ठहर जायें तो घर में ले जाकर ऊँचे आसन पर उन्हें बैठाना चाहिए, फिर उनके चरणों का प्रक्षालन कर गंधोदक लेना चाहिए, अष्टद्रव्य से उनकी पूजा करनी चाहिए पुनः पंचांग प्रणाम करना चाहिए। फिर थाली में भोजन परोस कर उनसे निवेदन करना चाहिए कि मेरा मन शुद्ध है, वचन शुद्ध है, काय शुद्ध है और अन्न-जल शुद्ध है। श्रावकों की ये सब क्रियाएँ नवधाभक्ति कहलाती हैं।

दाता के सात गुण हैं–श्रद्धा, भक्ति, तुष्टि, विज्ञान, अलोभीपना, क्षमा और शक्ति। जिस दाता में ये सात गुण पाये जाते हैं वही दाता प्रशंसा के योग्य होता है। इन सातों गुणों में जो विज्ञान गुण है, उसी का नाम विवेक है। इस गुण से युक्त श्रावक साधुओं को प्रासुक, पथ्य और योग्य आहार देता है। जो भोजन विरूप हो, चलितरस हो–अपने स्वाद से बिगड़ गया हो, फेंका हुआ हो, जल गया हो, खाने से रोग उत्पन्न करने वाला हो या साधु की प्रकृति के विरुद्ध हो, ऐसा भोजन मुनि को नहीं देना चाहिए। जो भोजन उच्छिष्ठ हो–खाने के बच गया हो, नीच लोगों के खाने योग्य हो, दूसरों के लिए बनाया गया हो, निन्दनीय हो, दुर्जन से छू गया हो, किसी देवता अथवा यक्ष के उद्देश्य से रखा हो, वह भोजन भी मुनि को नहीं देना चाहिए। ऐसे ही जो भोजन दूसरे गांव से लाया गया हो या मंत्र के द्वारा लाया गया हो या भेंट में आया हो या बाजार से खरीदकर लाया गया हो या ऋतु के प्रतिकूल हो, वह भोजन भी मुनि को नहीं देना चाहिए। दही, घी, दूध आदि बासी भी खाने के योग्य हैं किन्तु यदि इनका रूप, गंध और स्वाद बदल गया हो वह मुनि के देने योग्य नहीं है।

जो मुनि अवस्था में छोटे हैं, रोग से दुर्बल हैं, वृद्ध हैं अथवा नाना व्याधियों से पीड़ित हैं, ऐसे मुनियों को उनके स्वास्थ्य के अनुकूल ही आहार देना चाहिए।

मुनियों को आहार देते समय कपट, घमंड, निरादर, चंचलता, असंयम और कठोर वचनों को विशेषरूप से छोड़ देना चाहिए अर्थात् ये कपट आदि प्रवृत्तियाँ तो सदा ही त्याज्य हैं किन्तु भोजन के समय तो खासतौर से छोड़ देने योग्य हैं क्योंकि इन सबका मन पर अच्छा असर नहीं पड़ता है और मन खराब होने से भोजन का भी परिपाक ठीक नहीं होता है।

जो भक्तिपूर्वक दान नहीं देते या अत्यन्त कृपण हैं अथवा अव्रती हैं, या अपनी दीनता प्रगट करते हैं या करुणाबुद्धि से दान देते हैं उनके घर पर साधु को आहार नहीं लेना चाहिए।

जैन साधु बड़े सत्त्वशाली होते हैं, चित्त से भी बड़े दयालु होते हैं, उनकी वृत्ति दीनता और करुणाजन संकल्पों से रहित होती है अतः वे दीनों और दयापात्रों के घर पर आहार नहीं करते हैं।

मुनियों को दान स्वयं अपने हाथ से देना चाहिए। यदि कोई पर से दान दिलाता है तो वह दान कैसा है? सो ही आचार्य बताते हैं कि–

'धर्म के कार्य, स्वामी की सेवा और सन्तानोत्पत्ति को कौन समझदार मनुष्य दूसरे के हाथ सौंपता है? अर्थात् धर्म के कार्य–दान, पूजा आदि क्रियाएं, स्वामी की सेवा और संतान उत्पत्ति के कार्य, स्त्रीभोग ये कार्य बुद्धिमान लोग स्वयं ही करते हैं।

जो अपना धन देकर दूसरों के द्वारा धर्म कराता है, वह उसका फल दूसरों के भोग के लिए ही उपार्जित करता है इसमें संदेह नहीं है।

खाद्यपदार्थ, भोजन करने की शक्ति, रमण करने की शक्ति, सुन्दर स्त्रियाँ, संपत्ति और दान करने की शक्ति ये सब चीजें स्वयं धर्म करने से ही प्राप्त होती हैं।

मुनियों को नाई, धोबी, कुम्हार, लुहार, सुनार, गायक, भाट, दुराचारिणी स्त्री तथा नीच लोगों के घर आहार नहीं लेना चाहिए। उत्तम वर्ण और उत्तम कार्य करने वालों के यहाँ ही आहार लेना चाहिए, ऐसा विधान है।

प्रत्येक श्रावक का कर्तव्य है कि वह अपना मन शुभ कार्यों में लगावे जैसे पारस के योग से लोहा अत्यन्त शुद्ध हो जाता है वैसे ही परिणामों की निर्मलता से दिया गया दान अतिशय लाभ को देने वाला हो जाता है। प्राणियों के मन होते हुए भी यदि वह तप, दान और पूजा में नहीं लगाया जाता है तो जैसे गोदाम में धरा हुआ बीज धान्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है, वैसे ही वह मन भी उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त नहीं करा सकता है अतः यदि मन है तो उसे शुभ कार्यों में लगाओ और यदि धन है तो घर पर आये हुए अतिथि को, अपने आश्रित को, सजातीय को और दीन मनुष्यों को समय के अनुसार दान देते रहो, यही श्रावक का परम कर्तव्य है।

आजकल सच्चे मुनि हैं या नहीं? इस पर आचार्य कहते हैं–

'काले कलौ चले चित्ते, देहे चान्नादि कीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि, जिनरूपधरा नराः।।
यथा पूज्यं मुनीन्द्राणां, रूपं लेपादि निर्मितम्।
तथा पूर्व मुनिच्छाया, पूज्याः संप्रति संयताः।।

इस कलिकाल में मनुष्यों का मन चंचल रहता है और शरीर अन्न का कीड़ा बना हुआ है। फिर भी बड़े आश्चर्य की बात है कि आज भी जिनमुद्रा के धारक मुनि पाये जाते हैं। जैसे पाषाण आदि में अंकित जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा पूजने योग्य हैं, लोग उसकी पूजा करते हैं, वैसे ही आजकल के मुनियों को भी पूर्वकाल के मुनियों की प्रतिकृति मानकर पूजना चाहिए।

प्रवचन–11

भक्ति और वैराग्य मानव जीवन के दो सूत्र हैं!

अर्हन्तो मंगलं कुर्युः, सिद्धाः कुर्युश्च मंगलम्।
आचार्याः पाठकाश्चापि, साधवो तव मंगलम्।।

संसार में दो प्रकार के मार्ग बताये गये हैं–पहला भक्तिमार्ग और दूसरा वैराग्यमार्ग।

विचार करके देखा जाये तो चतुर्थकाल में भक्ति और निवृत्ति में भरत-बाहुबली ने सर्वोत्कृष्ट पथ का अनुसरण किया था। क्या उन बाहुबली के वैराग्य की समानता कोई कर सकता है जो एक वर्ष तक बिना आहार पानी के ध्यान में लीन रहे। गर्मी, सर्दी, बरसात तीनों ऋतुओं को दिगम्बर शरीर पर झेलते रहे। उनके प्रभाव से जन्मजात वैरी प्राणी आपसी वैर को छोड़कर शान्त हो गये थे। सर्पों ने उनके शरीर में वामी बना लीं, चिड़ियों ने घोंसले बना लिए, जंगल की वनस्पतियों ने शरीर पर बेलें चढ़ा दीं किन्तु बाहुबली अपने ध्यान से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए क्योंकि वे तो एक अलौकिक महामना मानव थे। एक वर्ष पूर्ण होने ही वाला था, वे शुक्लध्यान प्राप्ति के सम्मुख ही थे कि तभी भरत के द्वारा स्तुति करते ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। देवों ने गंधकुटी की रचना कर दी जिसमें बाहुबली अर्हंत अवस्था में विराजमान होकर समस्त भव्य प्राणियों को दिव्यध्वनि का पान कराने लगे।

यहाँ एक बात मैं यह बताना चाहूँगी कि भगवान बाहुबली के बारे में आज यह किंवदन्ती चल गई है कि 'उन्हें यह शल्य थी कि मैं भरत की भूमि पर खड़ा हूँ' इसीलिए उन्हें एक वर्ष तक केवलज्ञान नहीं हुआ एवं भरत के आते ही बाहुबली के हृदय से यह शल्य निकल गई और उन्हें तुरंत केवलज्ञान उत्पन्न हो गया किन्तु सिद्धांत की दृष्टि से यह बात बिल्कुल असत्य ठहरती है क्योंकि शल्य के तीन भेद माने हैं–माया, मिथ्यात्व और निदान। ये तीनों शल्य तो पंचम गुणस्थानवर्ती के ही नहीं होती हैं तो बाहुबली सरीखे उत्कृष्ट जिनकल्पी महाव्रती में इन शल्यों के होने का प्रसंग ही नहीं उठता। शल्य के रहते हुए उन्हें अनेक ऋद्धियाँ कैसे प्राप्त हो सकती थीं? जबकि बाहुबली भगवान को ध्यानावस्था में बहुत सारी ऋद्धियाँ प्रगट हो गई थीं। यह शल्य वाली किंवदन्ती कहाँ से चल गई है, समझ में नहीं आता। आदिपुराण में तो कथन आया है कि 'बाहुबली के हृदय में यह विकल्प कभी-कभी आ जाता था कि भरत को मेरे द्वारा कुछ क्लेश हो गया है इसीलिए उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न होने में इतना समय लगा। मैंने अपने द्वारा रचित बाहुबली पूजन में आदिपुराण के ही आधार से जयमाला में पंक्तियाँ रखी हैं–

होता विकल्प यह कभी-कभी, मुझसे चक्री को क्लेश हुआ।
अतएव अपेक्षा उनकी थी, आते ही केवलज्ञान हुआ।।

इसी प्रकार से मैंने कामदेव बाहुबली, योग चक्रेश्वर एवं बाहुबली नाटक आदि पुस्तकों में भी आगम आधार से सिद्ध किया है कि भगवान बाहुबली को शल्य नहीं थी। शल्य सहित के मनःपर्यय ज्ञान भी नहीं हो सकता है। जबकि आदिपुराण में बाहुबली के मनःपर्ययज्ञान और अनेक ऋद्धियाँ मानी हैं।

यह था उत्कट वैराग्य का उदाहरण, जिन्होंने सब कुछ जीतकर भी उसे छोड़ दिया और छोड़ा भी इस तरह से कि वापस उधर मुड़कर भी कभी न देखा। आज जब घरों में भाई-भाई का पारस्परिक झगड़ा होता है तब लोग भरत-बाहुबली का उदाहरण देकर कहने लगते हैं कि उन जैसे महापुरुषों को भी तो धन-सम्पत्ति के लिए युद्ध करना पड़ा था किन्तु कोई यह नहीं सोचता कि जीतने के बाद भी बाहुबली ने जीर्ण तृण के समान उस वैभव को छोड़कर कैसा घोर तपश्चरण किया था। भरत-बाहुबली का यह युद्ध तो हुण्डावसर्पिणी काल का एक दोष ही था जो कि एक चक्रवर्ती का पराभव–अपमान अपने ही भाई द्वारा किया गया अन्यथा चक्रवर्ती का पराभव कभी किसी के द्वारा नहीं हो सकता है। हुण्डावसर्पिणी के ही दोष से ऋषभदेव तीर्थंकर ने तृतीयकाल के अंत में ही जन्म लिया और मोक्ष भी चले गये। भगवान बाहुबली को उनसे भी पहले निर्वाण प्राप्त हो गया था। इसके पश्चात् चतुर्थकाल के आदि से अन्त तक शेष 23 तीर्थंकर हुए हैं।

इसी प्रकार भक्ति के क्षेत्र में भरत चक्रवर्ती का उदाहरण है, जिन्होंने एक नहीं सैकड़ों बार भगवान की पूजा कर-करके अपने कर्मों को इतना शिथिल कर लिया था कि दीक्षा धारण करते ही अन्तर्मुहूर्त में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया था। कल्याणमंदिर स्तोत्र में श्री कुमुदचन्द्राचार्य ने कहा है–

हृद्वर्तिनित्वयि विभो! शिथिलीभवन्ति, जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्मबंधाः।
सद्योभुजंगममया इव मध्यभाग-मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य।।

अर्थात् जैसे जंगल में चंदन के वृक्षों में सुगंधि के कारण लिपटे हुए महाविषधर सर्प भी मोर की आवाज सुनते ही शिथिल पड़ जाते हैं क्योंकि सर्प और मयूर का जन्मजात पारस्परिक वैर है, मयूर उसके टुकड़े-टुकड़े करके मार डालता है इसीलिए साँप उसकी आवाज मात्र से डरकर अपने बंधन ढीले कर देता है, उसी प्रकार प्राणियों के हृदय में आपकी नामरूपी मयूर वाणी का जब प्रवेश हो जाता है तो कर्मरूपी सर्पों के बंधन स्वयमेव ढीले हो जाते हैं अर्थात् नष्ट होने लगते हैं। चक्रवर्ती भरत ने भी इसी प्रकार की भक्ति करके अपने कर्मबंधन ढीले कर लिए थे।

आज पंचमकाल है अतः इस भव से तो मोक्ष नहीं है किन्तु भक्ति के और त्याग के बल पर एक भवावतारी बनने का पुण्य अर्जित किया जा सकता है। भावसंग्रह में श्री देवसेनाचार्य ने भव्यात्माओं के लिए बड़ा सुन्दर संबोधन प्रदान किया है–

वरिससहस्सेणपुरा, जं कम्मं हणइ तेण काएण।
तं कम्मं वरिसेण हु, णिज्जरयइ हीणसंहणणे।।

अर्थात् जितने कर्मों को चतुर्थकाल में एक हजार वर्ष की तपस्या से नष्ट किया जाता था आज उतने कर्मों को एक वर्ष में नष्ट किया जा सकता है इसका कारण यही बताया है कि पंचमकाल में हीन संहनन है, शारीरिक शक्ति कमजोर है, चित्त चंचल है, शरीर अन्न का कीड़ा है फिर भी आश्चर्य की बात है कि जिनलिंग को धारण करने वाले महापुरुष आज भी इस पृथ्वीतल पर विहार कर रहे हैं।

इसी प्रकार पहले जिस भक्ति के बल पर इन्द्र, चक्रवर्ती आदि महान् पुण्य अर्जित करते थे वैसे ही आज भी भगवान के श्रीचरणों की पूजा से आप लोग भी असीम पुण्य संचित कर सकते हैं। मैंने स्वयं अनुभव किया है कि जिस समय मैं बड़े-बड़े विधानों की पूजाओं को लिखा करती थी उस समय इतनी तन्मयता हो जाती कि कोई भी दर्शन के लिए आता-जाता किन्तु मुझे कुछ पता नहीं चलता। बाद में लोगों की शिकायतें सुनकर ज्ञात होता कि वे लोग दर्शन करने आये थे किन्तु उपयोग की एकाग्रता के कारण मैं आशीर्वाद भी न दे सकी।

भक्ति की एकाग्रता वास्तव में मात्र अनुभवगम्य ही आनंद है, उसे वचनों के द्वारा किसी के समक्ष प्रगट नहीं किया जा सकता। भक्तों का नमस्कार स्वीकार करना, उन्हें आशीर्वाद देना तो दूर की बात है, विधानों के रचनाकाल में तो मुझे ऐसी अनुभूति होती थी कि मैं साक्षात् ही अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना कर रही हूँ। अपनी शारीरिक अस्वस्थता में अभी भी मुझे वही भक्ति संबल प्रदान करती है।

भक्ति ही एक दिन निवृत्ति का रूप धारण कर लेती है। मोक्षमार्ग के इन दोनों सूत्रों से गृहस्थधर्म और मुनिधर्म परिलक्षित होता है। अनादिकाल से ये दोनों ही धर्म चले आये हैं। मुनियों को छठे-सातवें गुणस्थान तक पंचपरमेष्ठी की भक्ति करने हेतु आचार्यों ने निर्देश दिये हैं जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने भी अपनाया था।

कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि दिगम्बर साधुओं को भगवान के दर्शन की क्या आवश्यकता है? वे तो स्वयं भगवान की प्रतिकृति होते हैं किन्तु यह उनकी मान्यता गलत है। मूलाचार आदि ग्रंथों में भी स्थविरकल्पी मुनियों के लिए जिनेन्द्रभक्ति का स्थान-स्थान पर निर्देश किया है, भगवान का अभिषेक देखते समय अभिषेक वंदना नाम की क्रिया में सिद्ध, चैत्य, पंचगुरु, शांतिभक्ति पढ़ने की विधि बताई है, तीनों काल की सामायिक भी मंदिर में जिनप्रतिमा के समक्ष ही करने के लिए कहा है।

आहार के लिए उठते समय भी आप देखते हैं कि भगवान के दर्शन करके ही आचार्य अथवा साधुगण मंदिर से चर्या को निकलते हैं। चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज ने कभी भी भगवान के दर्शन किये बिना आहार नहीं किया। उसी परम्परा का निर्वाह करते हुए हम लोग भी सदैव जिनप्रतिमा के दर्शन करके ही आहार को उठते हैं।

जब तक आप निवृत्ति–पूर्णत्यागरूप मुनिधर्म को धारण नहीं कर सकते, तब तक देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति को जीवन में प्रधानता से पालन करें तभी कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। पंचमकाल के अंत तक भक्ति और निवृत्ति दोनों मार्ग अविच्छिन्नरूप से चलेंगे, यह श्रद्धान रखते हुए पदानुसार कर्तव्य का पालन करो, यही मेरा कहना है।

प्रवचन–12

सद्गृहस्थ

भव्यात्माओं! आगम ग्रंथों में पाक्षिक श्रावक का विशेष लक्षण बताते हुए आचार्यों ने कहा है कि जो श्रावक जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से निरन्तर ही विषयों को छोड़ने योग्य समझता हुआ भी मोह के निमित्त से उन्हें छोड़ने के लिए असमर्थ है, उस गृहस्थ के लिए ही गृहस्थ धर्म पालने की अनुमति है। उस गृहस्थ धर्म में सबसे प्रथम वह गृहस्थ जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का श्रद्धान करता हुआ हिंसा को छोड़ने के लिए मद्य, मांस, मधु और पाँच उदंबर फलों का त्याग कर ही देवे।

मद्य–शराब के एक बिंदु में इतने जीव हैं कि वे संचार करें तो तीन लोक को भीपूरित कर सकते हैं और उसके पीने से जीवों के इसलोक-परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं इसलिए इस मदिरा को दूर से ही छोड़ देना चाहिए। मांस का भक्षण तो स्पष्ट में ही बुरा है। यहाँ तक कि विवेकी सभ्यजन मांस के नाम को सुनकर भोजन करते हुए भी छोड़ देते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जैसे मांस प्राणी का अंग है वैसे ही अन्न भी पंचेन्द्रिय प्राणी का अंग है पुनः अन्न, वनस्पति आदि का भक्षण करना भी मांस दोष के समान है?

तो ऐसा नहीं है, देखो! अन्न और मांस दोनों ही यद्यपि प्राणी के अंग समान रूप से हैं फिर भी अन्तर है क्योंकि अन्न खाने योग्य है और मांस खाने योग्य नहीं है। जैसे– स्त्री और माता दोनों ही स्त्रीपने से समान हैं किन्तु स्त्री ही भोग्य है, माता नहीं। अथवा यो समझिए कि मांस जीव का शरीर है किन्तु जो-जो जीव के शरीर हैं वे सभी मांस नहीं हैं। जैसे कि नीम तो वृक्ष है किन्तु जितने वृक्ष हैं वे सभी नीम नहीं हैं। अथवा गाय से उत्पन्न होकर भी दूध ग्राह्य है किन्तु गोमांस ग्राह्य नहीं है। सर्प से मणि उत्पन्न होती है वह तो विषनाशक है किन्तु सर्प का डस लेना विषकारक है इसलिए एकेन्द्रिय जीवों के कलेवर–अन्न, वनस्पति आदि को मांस संज्ञा नहीं है किन्तु दो इंद्रिय से लेकर सभी जीवों के कलेवर मांस कहलाते हैं और वे त्याज्य हैं।

मधु–शहद की एक बिंदुमात्र के भक्षण से सात ग्राम के जलाने जितना पाप लगता है इसलिए यह भी महा निंद्य पदार्थ है। इसी प्रकार से नवनीत–मक्खन को भी दो मुहूर्त के बाद नहीं खाना चाहिए उसमें भी बहुत जीव जन्म ले लेते हैं, उसी प्रकार पीपल, उदुम्बर,पाकर, बड़ और अंजीर इन फलों को सुखाकर भी नहीं खाना चाहिए। अष्टमूलगुणधारी श्रावक का कर्तव्य है कि वह रात्रि भोजन और अनछना पानी भी कभी नहीं पीवे क्योंकि ये स्वाध्याय और धर्म दोनों की हानि करने वाले हैं। यह पाक्षिक श्रावक पाँच अणुव्रतों कोभी अभ्यासरूप से पालता है और सप्त व्यसनों का भी त्याग कर देता है।

दूसरी प्रकार से अष्टमूलगुणों का वर्णन इस प्रकार है–मद्य, माँस, मधु, रात्रि

भोजन और पाँच उदुम्बर फल इनका त्याग करना तथा पंचपरमेष्ठी की वंदना करना, जीव दया पालना और पानी छानकर पीना। जो भव्य जीव जीवन भर के लिए इन महापापों को छोड़ देता है और जिसका यज्ञोपवीत संस्कार हो चुका है ऐसा शुद्ध बुद्धि वाला जीव ही जिनधर्म को सुनने के लिए योग्य होता है। इसी बात को श्री अमृतचंद्र सूरि ने पुरुषार्थ सिद्धिउपाय में कहा है–

अष्टावनिष्ट दुस्तर, दुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्म देशनायाः, भवंति पात्राणि शुद्धधियः।।

अर्थात् 'अनिष्ट, दुस्तर और पापों के घर ऐसे इन आठों को छोड़कर शुद्ध बुद्धि वाले प्राणी जिनधर्म की देशना के पात्र होते हैं।'

ऐसा सम्यग्दृष्टि श्रावक हमेशा जिनेन्द्रदेव की पूजा किया करता है।

पूजा को इज्या भी कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं–नित्यमह, आष्टान्हिक, इन्द्रध्वज, चतुर्मुख और कल्पद्रुम।

नित्यमह–अपने घर पर स्नान करके शुद्ध धुले हुए वस्त्र पहनकर घर से जल-चंदन आदि सामग्री ले जाकर मंदिर में जिनेन्द्रदेव की पूजा करना नित्यमह कहलाती है। अपनी शक्ति के अनुसार जिनप्रतिमा, जिनमंदिर आदि का निर्माण कराना, मंदिर की पूजा व्यवस्था के लिए जमीन, धन आदि मंदिर में दान देना, त्रिकाल में जिनदेव की आराधना करना, अपने घर के चैत्यालय में पूजा करना और भक्तिपूर्वक प्रतिदिन मुनियों को दान देना, यह सब नित्यमह पूजा है।

आष्टान्हिक–नंदीश्वर पर्व में जो पूजा की जाती है, वह आष्टान्हिक पूजा है।

इन्द्रध्वज–जो पूजा इन्द्र आदिकों के द्वारा विशेषरूप से की जाती है, वह इन्द्रध्वज कहलाती है।

चतुर्मुख–जो जिनपूजा मुकुटबद्ध मंडलेश्वर राजाओं द्वारा की जाती है, वह सर्वतोभद्र–महामह या चतुर्मुख कहलाती है। यह सब जीवों को हितकर होने से सर्वतोभद्र, चतुर्मुख जिनबिंब विराजमान करके चारों दिशाओं में पूजा करने से चतुर्मुख और सबसे बड़ी महान होने से महामह कहलाती है। इस सर्वतोभद्र विधान में मैंने तीन लोक के चैत्यालयों एवं तीर्थंकर आदि की 101 पूजाएँ बनाई है।

कल्पद्रुम–इस पूजा में चक्रवर्ती किमिच्छक दान देकर सभी की इच्छा पूर्ण कर देते हैं अर्थात् तुम्हें क्या इच्छा है, तुम्हें क्या इच्छा है ऐसा सभी की इच्छा को पूर्ण करते हुए दान देकर जो जिनेन्द्रदेव की महान पूजा करते हैं, वह कल्पद्रुम इस अपने सार्थक नाम वाली पाँचवीं पूजा कहलाती है। इसमें समवसरण का मण्डल बनाकर गंधकुटी में चार जिनबिम्ब विराजमान करके पूजन करते हैं। मैंने इस विधान की रचना करके 24 पूजाओं में चौबीसों तीर्थंकर के समवसरण वैभव आदि का वर्णन किया है और इस विधान में चारों प्रकार के दान करने का भी वर्णन किया है।

जो गृहस्थ अभिषेक, पूजन, गीत, नृत्य आदि द्वारा पूजन करते हैं, वे महान पुण्य का बंध कर लेते हैं।

अष्टद्रव्य से पूजन का महान फल है। अर्हंतदेव के चरणों में जलधारा देने से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मरूपी रज शांत हो जाती है। चंदन से पूजा करने से सुगंधित शरीर प्राप्त होता है। अक्षत से पूजा वैभव को अखंडित करने वाली है। पुष्प से पूजा करने वाले स्वर्ग में मंदार माला को प्राप्त करते हैं। नैवेद्य से पूजा करने से लक्ष्मी के स्वामी होते हैं। दीप से पूजा करने वाले कांति को विस्तृत करते हैं। धूप से पूजन करके उत्कृष्ट सौभाग्य को प्राप्त होते हैं। फल से पूजा करके इच्छित फल को प्राप्त कर लेते हैं और अर्घ्य से पूजा करके अभिमत वस्तुओं को प्राप्त कर लेते हैं। इसके सिवाय जिनपूजा का फल तो अचिन्त्य है। सम्यग्दृष्टि पूजक को 'मैं पहले, मैं पहले' कहते हुए सभीसुख संपत्तियाँ आकर घेर लेती हैं।

निर्विघ्नता से पूजा, बड़े-बड़े विधान आदि करने के लिए तथा योग्य दान, मान आदि सत्कारों से विधर्मियों को भी अपने अनुकूल करके और सहधर्मियों को भी अपने आधीन करके पूजा करना चाहिए। जो श्रावक स्त्री संसर्ग, आरंभ आदि सहित हैं, वे विधिवत् स्नान आदि करके शुचि होकर ही जिनपूजा करें।

कभी-कभी कोई श्रावक यह प्रश्न करते हैं कि मंदिर बनवाने से तो महान आरंभ होता है? लेकिन ऐसी बात नहीं है, जिनप्रतिमा, जिनमंदिर, वसतिका और स्वाध्यायभवन आदि बनवाने वालों को महान् सातिशय पुण्य का बंध होता है और परम्परा से वे लोग इस पुण्य के बल से कर्मों का भी नाश कर लेते हैं क्योंकि गृहस्थ तो हमेशा पाप क्रिया में आरंभ, व्यापार, मकान बनवाने आदि में ही प्रवृत्त रहते हैं। यद्यपि मंदिर बनवाने आदि में आरंभ में हिंसा है, तो भी उसके महान पुण्य में वह समुद्र के जल में एक कण विष के समान क्या कर सकता है और तो क्या-**''मुक्ति प्रासाद सोपान माप्तैरुक्तो जिनालयः''** शास्त्र में ऐसा कहा है कि जिनेन्द्रदेव ने मंदिर को मुक्तिमहल की सीढ़ी बताया है।

ग्रंथकार कहते हैं कि इस दुःषमाकालरूपी रात्रि को धिक्कार हो कि जहाँ पर बड़े-बड़े शास्त्र के विद्वान भी जिनबिंब दर्शन के बिना प्रायः करके भगवान की भक्ति करने में प्रवृत्त नहीं होते हैं। इसलिए प्रत्येक स्थान पर जिनमंदिर की परम आवश्यकता है। अहो! इस पंचमकाल में गृहत्यागी मुनियों का मन भी रागादि परिणति से चंचल होकर धर्म-कर्म में प्रवृत्ति नहीं कर पाता है इसलिए जिनमंदिर की बहुत ही आवश्यकता है अर्थात् मुनिगण भी मंदिर और जिनप्रतिमाओं के आश्रय से अपनी प्रवृत्तियों को नियमित कर पाते हैं उन्हें भी आज इनकी पूरी आवश्यकता रहती है।

इस प्रकार सरल प्रवृत्ति से जिनपूजा करने वालों के सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं और उनके सभी मनोरथ पूर्ण होते हैं।

प्रवचन–13

महिलाओं के कर्तव्य

भव्यात्माओं! संसार की सृष्टि में स्त्री और पुरुष दो अंग हैं। जैसे कुंभकार के बिना चाक से बर्तन नहीं बन सकते हैं अथवा कृषक के बिना पृथ्वी से धान्य की फसल नहीं हो सकती है उसी प्रकार स्त्री-पुरुष दोनों के संयोग के बिना सृष्टि की परम्परा नहीं चल सकती है। इतना सब कुछ होते हुए भी महिलाओं का दायित्व कुछ विशेष ही है, वह क्या है? उसे मैं आपको बताऊँ–

आज जब घर में कन्या का जन्म होता है, तब घर वाले ही क्या अड़ोस-पड़ोस के लोग भी यही सोचने लगते हैं कि यह क्या बला आ गई? इसका मूल कारण है 'दहेज'। इस दहेज प्रथा ने कितने अनर्थों को जन्म दिया है, यह सब प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। एक समय था जब कन्या को सबसे श्रेष्ठ रत्न और उनके माता-पिता को सबसे श्रेष्ठ रत्नाकर माना जाता था। आदिपुराण में बताया है–**''कन्यारत्नात्परं नान्यद्''।** अर्थात् कन्यारत्न से बढ़कर अन्य कोई रत्न नहीं है। तथा–**'रत्नाकरत्वदुर्मर्वमम्बुधिः श्रयते बृथा। कन्यारत्नमिदं यत्र तयोरेतद् विराजते।।**

यह समुद्र अपने 'रत्नाकरत्व' नाम के खोटे अभिमान को व्यर्थ ही धारण कर रहा है क्योंकि जहाँ इस कन्यारत्न ने जन्म लिया है ऐसे उसके माता-पिता में ही रत्नाकरपना शोभित होता है अर्थात् कन्यारत्न के जन्मदाता माता-पिता ही सच्चे रत्नाकर (रत्नों की खान) होते हैं।

यह बात सुलोचना के स्वयंवर के प्रसंग पर श्री गुणभद्राचार्य ने कही है। वास्तव में जहाँ एक कन्या के स्वयंवर के समय करोड़ों राजा-महाराजा आकर उपस्थित होते थे और सबके मन में यही आशा रहती थी कि यह कन्या मेरे गले में वरमाला डाले। इस विषय में सुलोचना, सीता, द्रौपदी आदि के प्रत्यक्ष उदाहरण आबाल-गोपाल में प्रसिद्ध ही हैं लेकिन आज सर्वथा इसके विपरीत स्थिति देखने को मिलती है। कन्याओं के जन्म को हीन दृष्टि से देखने का मूल कारण जो दहेज है, उसका कैसे निर्मूलन किया जाये? इस पर महिलाओं को सक्रिय कदम उठाना चाहिए। महिलाएँ ही महापुरुषों की जननी हैं तीर्थंकर जैसे नररत्नों को भी जन्म देने का सौभाग्य महिलाओं ने ही प्राप्त किया है यही कारण है कि महामुनियों ने भी उनकी प्रशंसा में बहुत कुछ कहा है। श्रीमानतुंगाचार्य के शब्द स्पष्ट हैं–

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्, नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं, प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्।।

सैकड़ों स्त्रियाँ सैकड़ों ही पुत्रों को जन्म देती हैं किन्तु हे भगवन्! आप जैसे पुत्र को

जन्म देने वाली माता विरली ही होती हैं। सो ठीक ही है क्योंकि सभी दिशाएँ नक्षत्रों को तो जन्म दे सकती हैं किन्तु हजारों किरणों से देदीप्यमान ऐसे सूर्य को एक पूर्व दिशा ही जन्म देती है।

पातिव्रत्य धर्म में सीता और मैना सुन्दरी के उदाहरण प्रसिद्ध ही हैं। साथ ही पति को उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लगाने के लिए रानी चेलना का पुरुषार्थ आज भी महिलाओं के लिए एक प्रेरणास्पद उदाहरण है।

प्रायः आज की महिलाएँ पति को प्रसन्न रखने के लिए उनके साथ क्लबों में घूमना व स्वच्छन्द प्रवृत्ति करना ही अपना कर्तव्य समझ लेती हैं। कोई-कोई महिलाएँ तो पति के साथ रात्रि भोजन ही क्या मदिरापान आदि भी करने लगती हैं। भोगों में ही सुख मानने वाली कुछ महिलाएँ तो पति को दुर्व्यसनों से नहीं रोक पाती हैं किन्तु धर्म कार्य से, गुरुओं के पास जाने से अवश्य रोक देती हैं। आज कितने ही ऐसे उदाहरण देखने में आते रहते हैं।

सचमुच में ऐसी महिलाओं को ही आचार्यों ने दुर्गति का द्वार बतलाया है। आत्मानुशासन में कहा है–

'शरणमशरणं वो बंधवो बंधमूलं,
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम्।।

'जिस घर को शरण समझते हैं वह अशरण हैं, बंधुवर्ग बंधन के मूल कारण हैं और चिरकाल से परिचित भी स्त्रियाँ आपत्ति के घर का द्वार हैं। ये वाक्य श्री गुणभद्रसूरि के हैं किन्तु शीलवती महिलाएँ इससे विपरीत सन्मार्गदर्शिका भी देखी जाती हैं।

महिलाओं का अपनी संतान के प्रति भी क्या कर्तव्य है? वास्तव में जो महिलाएँ सुशिक्षित हैं वे अपनी संतान को सुयोग्य साँचे में ढाल सकती हैं क्योंकि माताओं की गोद ही बच्चों के लिए प्रारंभिक पाठशाला है। माताएँ बच्चों को प्रारंभ से ही लाड़-प्यार के साथ धर्म की घूँटी पिला-पिलाकर सुसंस्कारों से हृष्ट-पुष्ट बना सकती हैं। जब बच्चे कुछ समझने और बोलने लग जायें, तब उन्हें महामंत्र सिखाना, अच्छे-अच्छे धार्मिक भजनों की पंक्तियाँ रटाना, जैसे-जैसे वे 3-4 वर्ष के होते जायें, उन्हें छोटी-छोटी शिक्षास्पद कथाएँ सुनाना, धार्मिक पाठशालाओं में कुछ न कुछ धर्म शिक्षा दिलाते रहना ही बच्चों को सुसंस्कारित करना है। किशोरावस्था में उन्हें कुसंगति से बचाना, मंदिरों में जाने की प्रेरणा देते रहना, गुरुओं के पास ले जाना, तीर्थयात्राओं की वंदना कराते रहना, उनके जीवन में सद्विचारों के बीजारोपण करना है। खासकर ग्रीष्मावकाश में बालक-बालिकाओं को गुरुओं के पास धर्म शिक्षा दिलाना, धार्मिक पढ़ाई में शिक्षण शिविरों में भाग दिलाना, छुट्टी के दिनों का बहुत बड़ा सदुपयोग है।

युवकों को धर्मकथाओं के माध्यम से चारित्रवान बनाना चाहिए। मर्यादा पुरुषोत्तम

रामचन्द्र, जम्बू कुमार, अकलंक-निकलंक आदि महापुरुषों के आदर्श बालकों के समक्ष पुनः-पुनः कहते रहने से उनमें वैसे बनने के संस्कार सहज ही हो सकते हैं।

कन्याओं के शील की सुरक्षा कैसे रहे? इस पर भी उनके माता-पिता को सावधान रहना चाहिए। छोटी-छोटी बालिकाओं को कुसंगति से बचाना, युवक नौकरों को घर में न रखना, एक साथ लड़के-लड़कियों को न पढ़ाना, युवक अध्यापक से न पढ़ाना, अश्लील उपन्यास पढ़ने से, अश्लील सिनेमा आदि देखने से दूर रखना आदि। प्राचीनकाल में भी राजघरानों में तथा सभ्य घरानों में वृद्ध कंचुकी नौकर रहते थे जिससे कन्याओं को ही नहीं बल्कि युवती महिलाओं के भी शील की सुरक्षा बनी रहती थी। सहशिक्षा की प्रणाली कथमपि श्रेयस्कर नहीं है। फलस्वरूप कुछ न कुछ अघटित घटनाएँ होती ही रहती हैं। किशोरावस्था की बालिकाओं को यदि युवक अध्यापक पढ़ाते हैं तो प्रायः उनके शील का अपहरण हो जाया करता है। अश्लील कहानियों और चलचित्रों का कुप्रभाव, कोमल और सरल मस्तिष्क को विकृत बनाये बगैर नहीं रहता है।

कन्या विवाह के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर माता बनती है। जिस प्रकार कोयले की खान से कोयला और हीरे की खान से हीरा निकलता है उसी प्रकार अच्छे संस्कारों से संस्कारित शीलवती माता से अच्छे-अच्छे नवरत्न और कन्यारत्नों का जन्म होता है। दुराचारिणी माता की संतान कभी भी अच्छी नहीं मानी जा सकती है। कुछ प्राकृतिक सृष्टि की व्यवस्था ही ऐसी है। चक्रवर्ती, अर्धचक्री आदि महापुरुषों के अनेक रानियाँ होती हैं। उन सब रानियों की संतान एक पिता की ही होती है किन्तु यदि कोई महिला अनेक पुरुष से समागम करती हो तो वह स्वयं यह निर्णय नहीं दे सकती है कि इस मेरे पुत्र का पिता कौन है? यही कारण है कि अपने यहाँ भारतीय संस्कृति में महिलाओं के लिए एक पति ही माना गया है। वैसे यह विषय अति सूक्ष्म है। विशेष जिज्ञासु महिलाओं को अपने धर्मगुरु व गुर्वानियों के पास में इस विषय को समझना चाहिए इसीलिए पुनर्विवाह, विधवा विवाह, विजातीय विवाह आदि परम्पराएँ आर्यसंस्कृति से बाह्य हैं।

शीलवती महिलाएँ मनुष्यों से ही नहीं, देवों से भी पूज्यता प्राप्त कर लेती हैं। शील के प्रभाव से अग्नि का जल हो जाना, सर्प का हार हो जाना, वज्र के फाटक खुल जाना आदि उदाहरण मात्र कल्पनाएँ ही नहीं है। आज भी यदि कोई महिला अपने शील को सुरक्षित रखकर अग्नि को जल बनाना चाहे तो सहज सफल हो सकती है। आत्मविश्वास बहुत बड़ी चीज है। यह नियम है कि पंचमकाल के अंत तक भी शीलव्रती महिलाएँ रहेंगी और आगे के छठे काल में भी उनकी परम्परा चल सकेगी। पुनरपि आने वाले चतुर्थकाल में उन्हीं शीलवती महिलाओं के वंश में तीर्थंकर आदि महापुरुष जन्म लेवेंगे। यह तो सब एकदेश ब्रह्मचर्य अणुव्रत की महत्ता है। ऐसी ब्रह्मचर्याणुव्रत पालन करने वाली महिलाएँ गृहस्थाश्रम में रहकर देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय आदि करते हुए धर्म की परम्परा

को अक्षुण्ण रखती हैं। अनंतर सल्लेखना से मरण करके सम्यक्त्व और अणुव्रत के प्रभाव से स्त्रीलिंग का छेदकर सौधर्म आदि स्वर्गों में देव हो जाती हैं। कालान्तर में पुरुष लिंग प्राप्तकर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त कर लेती हैं।

जो महिलाएँ पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत पालन करती हैं, व्रतप्रतिमा आदि व्रतों से अपने शरीर को अलंकृत करती हैं, क्षुल्लिका अथवा आर्यिका बन जाती हैं, वे महिलाएँ ब्राह्मी-सुन्दरी के समान सर्वजनों में पूज्य हो जाती हैं। चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण आदि महापुरुष भी उनकी पूजा करते हैं, उन्हें आहारदान आदि देकर अपने को धन्य मानते हैं। इन्द्र भी उनके चरणों की वंदना करते हैं। इस प्रकार से वे स्त्रियाँ सर्वश्रेष्ठ आर्यिका पद में तीनों लोकों में वंद्य हो जाती हैं।

आज भी चन्दनबाला, अनंतमती जैसी कन्याएँ हैं। सीता, मैना, मनोरमा जैसी पतिव्रता हैं, चेलना जैसी कर्तव्यपरायण हैं और ब्राह्मी-सुन्दरी के पदचिन्हों पर चलने वाली आर्यिकाएँ हैं। हमारी बहनों को उनसे शिक्षा लेनी चाहिए। प्रतिवर्ष एक माह नहीं तो कम से कम एक सप्ताह उनके सानिध्य में जाकर उनसे कुछ सीखना चाहिए और स्त्री समाज में बढ़ती हुई दहेज प्रथा, सहशिक्षा आदि कुरीतियों को दूर करने में अपने समय को, शक्ति को और धन को लगाना चाहिए, यही महिलाओं का कर्तव्य है।

G G G G G

व्रत और तप सर्वथा कार्यकारी ही हैं

सग्गं तवेण सव्वो वि पावए तह वि झाणजोएण।
जो पावइ सो पावइ परलोए सासयं सोक्खं।।
अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि।
वरवयतवेहिं सग्गो मा दुक्खं होउ निरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरु भेयं।।

तप से स्वर्ग सभी प्राप्त करते हैं, पर जो ध्यान से स्वर्ग प्राप्त करता है उसका स्वर्ग प्राप्त करना कहलाता है, ऐसा जीव परभव शाश्वत–मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार अत्यन्त शुभ सामग्री से–शोधन सामग्री से अथवा सुहागा से सुवर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार काल आदि लब्धियों से आत्मा परमात्मा हो जाता है। व्रत और तप के द्वारा स्वर्ग का प्राप्त होना अच्छा है किन्तु अव्रत और अतप के द्वारा नरक के दुःख प्राप्त होना अच्छा नहीं है क्योंकि छाया और धूप में बैठकर इष्ट स्थान की प्रतीक्षा करने वालों में बहुत ही अंतर है।

–आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव-मोक्षपाहुड़

प्रवचन–14

दहेज दो तो ऐसा दो

आज समाज में दहेज प्रथा ने कन्याओं के जन्म को भारभूत बना दिया है । जिन कन्याओं के माता-पिता नौकरी से आजीविका करने वाले हैं उनकी कन्याओंके विवाह की समस्या या तो वे स्वयं जानते हैं या जिनके पास आकर वे अपनी दुःख वेदना प्रगट करते हैं, वे जानते हैं। अथवा यों कहिए कि सभी जानते हैं क्योंकि प्रायः कन्यायें स्त्री के घर में जन्म लेती हैं अतः सभी को किसी न किसी दिन अनुभव आता ही आता है। अन्तर इतना ही है कि श्रीमन्तों को अनुभव कुछ कम आता है अथवा नहीं भी आता है। आज लड़के वालों की खुली मांग ने जैन समाज की सभ्यता का मुँह काला कर दिया है। जो लोगखुली मांग नहीं रखते हैं वे भी प्रायः किसी न किसी रूप में माँग लेते हैं। जो गृहस्थ मध्यम-वर्ग के व्यापारी हैं उनकी भी लड़कियों के लिये दहेज दे पाना एक समस्या बनी हुई है।

इस दहेज की मांग के कारण आज 25-25, 30-30 वर्ष तक की लड़कियाँ कुंवारी दिख रही हैं और उनके माता-पिता चिन्ता से रात-दिन विक्षिप्त बने रहते हैं । ऐसे भी उदाहरण देखने में आते रहते हैं कि दहेज में इच्छित धन न मिलने के कारण कितनी लड़कियाँ अपने पीहर में ही पड़ी हुई हैं। यदि कोई ससुराल में हैं भी, तो सास-ससुर की उलाहना से तंग आकर जीवन को समाप्त करने की सोचने लगती हैं। इतना ही नहीं, कोई-कोई बहुएँ तो अपघात करके मर भी जाती हैं। प्रतिवर्ष ऐसे कई एक उदाहरण सुनने में आ ही जाते हैं।

इन सब दुर्घटनाओं का मूल कारण यह दहेज की मांग है जो कि सभ्य समाज के लिए सर्वथा निंद्य है। माता-पिता अपनी शक्ति और इच्छा के अनुसार जो कुछ कन्यादान के समय दे देते हैं, वरपक्ष वालों को उसे ही बहुमूल्य समझना चाहिये और याचना प्रवृत्ति को जलांजलि दे देनी चाहिये। क्योंकि-

'यदि पुत्रः सुपुत्रः स्यात्संपदा किं प्रयोजनम् ।
यदि पुत्रः कुपुत्रः स्यात्संपदा किं प्रयोजनम्।।

यदि अपना पुत्र सुपुत्र है तो सम्पत्ति से क्या प्रयोजन। अर्थात् वह स्वयं कमाकर अपना जीवन सुचारू बना सकता है और यदि पुत्र कुपुत्र है तो सम्पत्ति से क्या प्रयोजन है? अर्थात् वह पिता के द्वारा या ससुराल से प्राप्त हुई सम्पत्ति को दुर्व्यसन में ही लगा देगा।

यदि अपना पुत्र योग्य है तो उसके लिये अन्य किसी से याचना करके उसे दुःखी करने में क्या लाभ है और यदि अपना पुत्र योग्य नहीं है तो वह पराई सम्पत्ति को क्या संभालेगा?

इसलिये आज दहेज प्रथा की निंदा करने मात्र से कुछ नहीं होगा, अपने कर्तव्य को संभालते हुए 'माँग' प्रथा को सर्वथा छोड़ देना चाहिए और प्राचीन तथा अच्छी परम्परा को चलाना चाहिये।

अब मैं आपको एक ऐसे ''दहेज'' का इतिहास सुनाती हूँ कि जिस दहेज ने साधुओं को जन्म दिया है।

महमूदाबाद के निवासी लाला सुखपाल दास जी और उनकी धर्मपत्नी 'फूलमती जी' एक अच्छे धर्मनिष्ठ, विवेकशील, श्रावक दम्पत्ति थे। उन्होंने अपनी पुत्री 'मोहिनी देवी' का विवाह टिकैतनगर के श्रेष्ठी धन्यकुमार के सुपुत्र 'छोटेलाल जी ' के साथ किया था। उस समय सुखपालदास जी ने पुत्री की धर्मभावना के अनुरूप तथा अपने धार्मिक संस्कारों के निमित्त से अपनी सुपुत्री मोहिनी को दहेज में एक ग्रंथ दिया जिसका नाम था 'पद्मनंदिपंचविंशतिका'। दहेज के इस ग्रंथ को मोहिनी देवी ने भी एक अमूल्य निधि समझा और ससुराल में प्रतिदिन नियमित क्रम से मंदिर के दर्शन के बाद उसका स्वाध्याय करती रहीं। वे प्रतिदिन विधिवत् शास्त्र को चौकी पर विराजमान कर 'ऊंकारं बिदुसंयुक्तं.....इत्यादि मंगलाचरण करतीं पुनः शास्त्र को खोलकर उसका एक संस्कृत श्लोक भी पढ़ लेतीं पुनः शास्त्र बन्द कर जिनवाणी की स्तुति करके उसे ऊपर विराजमान कर देतीं। जब वह शास्त्र पूरा हो जाता तो पुनः उसी का स्वाध्याय प्रारंभ कर देतीं क्योंकि उस ग्रंथ में उन्हें बहुत ज्ञान सामग्री प्राप्त हो रही थी।

उन मोहिनी देवी ने प्रथम संतान के रूप में कन्यारत्न को जन्म दिया जिसका नाम कन्या के नाना सुखपालदास जी ने पता नहीं क्या सोचकर 'मैना' रख दिया और उसे गोद में खिलाते हुये वे सहसा कह दिया करते थे कि यह 'मैना' घर में नहीं रहेगी, घर से उड़ जायेगी। दीक्षा के बाद नानी फूलमती ने यह बात प्रायः सभी को बताई थी।

वह मैना (मैं) जब 6-7 वर्ष की थी, तभी से मां मोहिनी ने मुझ से कभी-कभी इस ग्रंथ को पढ़ाकर सुनना शुरू कर दिया। जब मैं 8 वर्ष की हो गई, तब मुझे भी नियमित स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी और कहा कि तुम भी इसी 'पद्मनंदिपंचविंशतिका' ग्रंथ का नित्य स्वाध्याय करो।

मैंने भी उसी विधि से नियमित रूप से उस ग्रंथ का स्वाध्याय प्रारंभ कर दिया मुझे तो उस ग्रंथ ने साक्षात् मोक्षमार्ग दे दिया। उस ग्रंथ के पढ़ते-पढ़ते मुझे सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति हो गई। मैंने सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा के सिवाय कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु को नमस्कार करने का सर्वथा त्याग कर दिया। इतना ही नहीं, मुझे उसके स्वाध्याय से सम्यग्ज्ञान मिला, सम्यक् प्रकाश मिला और धीरे-धीरे मेरे हृदय में वैराग्य के अंकुर फूटने लगे।

मेरे मन में यह भाव उत्पन्न हुए कि मैं इस भव में आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर शक्ति अनुसार संयम धारण करूँ और अगले भव में इस ब्रह्मचर्य के प्रभाव से लौकांतिक देव हो जाऊँ । यद्यपि आज मैं समझती हूँ कि आगामी भव में किसी पद की चाहना निदान है, यदि अपने परिणामों में विशुद्धि है, तदनुरूप संयम है, तो कोई स्थान दुर्लभ नहीं है किन्तु याचना क्यों करना! फिर भी उस 8-10 वर्ष की वय में मेरे हृदय में इस पद्मनंदिपंचविंशतिका के स्वाध्याय से बहुत ही प्रसन्नता थी और इस ग्रंथ को मैं अपना सर्वस्व समझती थी । उस समय मेरे लिए वह ग्रंथ भगवान के समान प्रतीत होताथा और

उसमें एक श्लोक भी ऐसा था कि जिससे मैं उस वाणी को साक्षात् भगवान की वाणीसमझ रही थी। वह श्लोक यह है–

संप्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्य चूड़ामणिः।
तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिकाः।।
सद्रत्नत्रयधारिणी यतिवरास्तासां समालम्बनं।
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः।।68।।

इस समय इस कलिकाल में भरतक्षेत्र में तीनों लोकों में श्रेष्ठ ऐसे केवली भगवान नहीं हैं फिर भी जगत् को प्रकाशित करने वाले उनके वचन यहाँ विद्यमान हैं ही और उन वचनों के आश्रयभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप उत्तम रत्नत्रय के धारक श्रेष्ठ मुनिराज भी विद्यमान हैं इसलिये उन मुनियों की पूजा वास्तव में जिनवचनोंकी ही पूजा है और इससे साक्षात् जिन भगवान की पूजा की गई है, ऐसा समझना चाहिए।

यद्यपि उस समय तक मुझे मुनियों का दर्शन नहीं हुआ था इसलिए मैं यही समझती थी कि आज भी साक्षात् जिनेन्द्रदेव की वाणी मौजूद है, उसी के प्रकाश में अपनी आत्मा का हितमार्ग देखा जा सकता है।

इस ग्रंथ के एक-एक श्लोक मुझे बहुत ही प्रिय लगते थे और मैं उन्हें बार-बार पढ़ा करती थी। इस ग्रंथ में **'अनित्यपंचाशत्'** अधिकार को पढ़कर अनित्य भावना बढ़ती जाती थी। उसके बाद के **'एकत्वसप्तति'** अधिकार से आत्मा के एकपने का ज्ञान तो होता ही था, साथ ही उसके अनंत अचिन्त्य गुणों का भी बोध हो गया था। ''चित्तत्वं तत्प्रतिप्राणिदेह एव व्यवस्थितम्''। यह चैतन्य तत्त्व प्रत्येक प्राणी के शरीर में ही विराजमान है। पुनरेव इस अधिकार का एक श्लोक आज भी मेरे मानस पटल पर अंकित है–

''दुःखं किंचित्सुखं किंचित्, चित्ते भाति जडात्मनः।
संसारेऽत्र पुनर्नित्यं, सर्वं दुःखं विवेकिनः।।74।।

संसार में कुछ दुःख और कुछ सुख है, ऐसा मूर्ख प्राणियों के ही चित्त में प्रतिभास होता है किन्तु संसार में सदा दुःख ही दुःख है, ऐसा प्रतिभास विवेकीजनों को होता है।

इसके बाद का **''यतिभावनाष्टक''** तो मैंने रट ही लिया था। जिसके एक श्लोक की भावना देखिये–

''ग्रीष्मे भूधरमस्तकाश्रित शिलां, मूलं तरोः प्रावृषि,
प्रोद्भूते शिशिरे चतुष्पथपदं, प्राप्ताः स्थितिं कुर्वते।।
ये तेषां यमिनां यथोक्ततपसां, ध्यानप्रशांतात्मनाम् ।
मार्गे संचरतो मम प्रशमिनः, कालः कदा यास्यति ।।6।।

जो साधु ग्रीष्मकाल में पर्वत के शिखर के ऊपर बनी हुई शिला के ऊपर बैठते हैं, वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे ध्यान लगाते हैं और भयंकर शीतकाल में खुले स्थान पर स्थित होकर ध्यान करते हैं तथा जो आगम के अनुसार तपश्चरण करते हैं, ध्यान से सहित हैं

और आत्मा को अतिशय शांत बना चुके हैं, ऐसे उन साधुओं के मार्ग में चलते हुए अत्यन्त शांति के साथ मेरा काल कब बीतेगा?

आज भी यही भावना बनी हुई है। जबकि दीक्षा लेकर स्त्रीपर्याय में सर्वोत्तम ऐसे पद में स्थित हूँ। इन भावनाओं से मेरे हृदय में आनंद की लहर दौड़ पड़ती थी और आज भी जब ये श्लोक हृदय में आते हैं तो एक अद्भुत ही आनंद अनुभव होने लगता है।

इस ग्रंथ में केवल वैराग्य और मुनि भावना की ही चर्चा हो ऐसी बात नहीं है प्रत्युत् गृहस्थ धर्म का भी बहुत सुन्दर विवेचन है। दान, पूजन और जिनेन्द्रदेव की भक्ति का, आलोचना का भी बहुत ही सुन्दर वर्णन है। श्रावकों के कर्तव्य में जिनमंदिर और जिनप्रतिमा के निर्माण कराने के महत्त्व को बताया है कि–

''बिम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या,
ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं च।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता ,
स्तोतुं परस्य किमु कारयितुं द्वयस्य।।22।।

जो भव्यजीव भक्ति से कुँदरू के पत्ते के बराबर जिनमंदिर बनवाते हैं तथा जौ के बराबर जिनप्रतिमा का निर्माण कराते हैं, उनके पुण्य का वर्णन करने के लियेयहाँ सरस्वती भी समर्थ नहीं हैं फिर जो भव्यजीव उन दोनों का ही (जिनमंदिर और जिनप्रतिमा का) निर्माण कराते हैं, उनके विषय में क्या कहा जाए! अर्थात् वे तो अतिशय पुण्यशाली हैं ही हैं।

इसी प्रकार से इस ग्रंथ में निश्चय पंचाशत, परमार्थविंशति, शरीराष्टक और ब्रह्मचर्याष्टक अधिकार भी अतिशय महत्वपूर्ण हैं।

संसार से भय और संयम में अनुराग कराने के लिये एक श्लोक तो अनर्घ्य मूल्यवान है। जिन्हें संसार के दुःखों से छूटने की इच्छा है मैं कहती हूँ उन्हें यह श्लोक बड़े-बड़े अक्षरों में लिखकर अपने शयनकक्ष और बैठक स्थान में लगा लेना चाहिए जिससे सोते समय, जागते समय तथा पद-पद पर भी इस पर ध्यान जाता रहे। यदि कदाचित् किसी काल में यह श्लोक हृदय में उतर जायेगा, तो मोक्षमार्ग में लगने में, संयम ग्रहण करने में देरी नहीं लगेगी। वह श्लोक यह है–

इन्द्रत्वं च निगोदतां च बहुधा, मध्ये तथा योनयः।
संसारे भ्रमता चिरं यदखिलाः, प्राप्ता मयाऽनन्तशः।।
तन्नापूर्वमिहास्ति किंचिदपि मे, हित्वा विमुक्तिप्रदां ।
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तपदवीं, तां देव पूर्णां कुरू ।।31।।

इस संसार में चिरकाल से भ्रमण करते हुये मैंने अनंत बार तो इन्द्रपद प्राप्त किया है और अनंतों बार निगोद पर्याय प्राप्त की है तथा इन्द्र और निगोद के मध्य जितनी भी योनियाँ हैं–पर्यायें हैं, उन सबको भी अनंतों बार प्राप्त किया है। इनमें से कोई पर्याय हमारे लिये अपूर्व नहीं रही है। इसलिये हे भगवन् ! जिस पदवी को मैंने आज तक प्राप्त नहीं किया है ऐसी जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की पदवी है, उसी की पूर्णता करो।

बस अब उसी पदवी की मुझे इच्छा है और कुछ भी नहीं चाहिए क्योंकि यह रत्नत्रय पदवी ही मोक्ष को प्रदान कराने वाली है।

यह श्लोक जितना उपयोगी हमारे लिये उस बाल्यकाल में हुआ था उतना ही क्या उससे भी अधिक उपयोगी मुझे आज प्रतीत हो रहा है क्योंकि अभी तो हमें एकदेश ही रत्नत्रय प्राप्त हुआ है अभी महाव्रतों में उपचारता लगी हुई है अतः आज भी मैं सतत श्री जिनेन्द्रदेव से यही प्रार्थना किया करती हूँ कि–

''भगवन् ! मेरे सम्यक्त्व की रक्षा हो, संयम (संयमासंयम) की रक्षा हो, वृद्धि हो तथा अंत में समाधिपूर्वक मरण हो जिससे मुझे सुगति की प्राप्ति हो और इस भव में नहीं तो आगे–तीसरे भव में मुझे इस रत्नत्रय की पूर्णता प्राप्त करने की शक्ति मिले। ''

इस प्रकार इस पद्मनंदिपंचविंशतिका ग्रंथ के स्वाध्याय से मुझे जितनी उपलब्धि हुई है, वह वचनों से नहीं कही जा सकती है पुनः उसको लिखना तो केवल नाममात्र है। यहाँ मुझे केवल इतना ही बताना है कि यह ग्रंथ प्रत्येक गृहस्थ और साधु सभी के लिये स्वाध्याय का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसका पठन, चिन्तन, मनन और वाचन प्रत्येक ज्ञान-पिपासु को करना चाहिए, इतना ही नहीं अपने पुत्र-पुत्रियों को भी यह ग्रंथ पढ़ाना चाहिए और साथ ही अपने इष्ट, मित्र, परिवारजनों को भी इसको पढ़ने की प्रेरणा देनी चाहिए तथा अपनी कन्याओं को यही ग्रंथ दहेज में देना चाहिए।

जब मेरे वैराग्य की बात घर में स्पष्ट हो गई और मैंने यह निर्णय दे दिया कि मैं विवाह के बन्धन में कतई नहीं बंधूंगी, तब पिता महमूदाबाद जाकर महिपाल दास जी को बुला लिवा लाए । वे आकर मुझे समझाने लगे, जब कुछ परिणाम नहीं निकला तब वे मुझे फटकारने लगे और गुस्सा करने लगे। इससे भी कुछ नतीजा नहीं निकला देखकर वे शाँत होकर पूछने लगे–

''मैना! तुमने इतनी छोटी उम्र में भला क्या देखा है जो तुम्हें वैराग्य हो गया है और तुम दीक्षा की चर्चा कर रही हो?''

तब मैंने कहा–

'मैंने बचपन से 'पद्मनंदिपंचविंशतिका का स्वाध्याय किया है उसी से मुझे वैराग्य हो गया है।' पुनः मैंने बहुत से श्लोक सुना-सुनाकर उनका अर्थ बताना शुरू कर दिया। कुछ देर तक प्रश्नोत्तर चलता रहा, बाद में वे अपनी बहन (मेरी गृहस्थावस्था की माँ) से बोले–

'जीजी! तुमने पद्मनंदिपंचविंशतिका, दर्शनकथा, शीलकथा, जम्बूस्वामीचरित, आदि पढ़ा-पढ़ाकर इस लड़की को बरबाद कर दिया है, इसका दिमाग खराब कर दिया है, अब यह हमारे, तुम्हारे वश की नहीं रही है.....।'

खैर, घटना तो लम्बी चौड़ी है। मैं यहाँ विषयांतर में न ले जाकर इसी ग्रंथ का माहात्म्य बतलाना चाहती हूँ पुनः जब आचार्य देशभूषण जी महाराज टिकैतनगर आये, उनके सामने भी मेरी चर्चा रखी गई, तब महाराज जी ने कहा कि–

'ऐसे-ऐसे श्मशान वैराग्य बहुतों को होते रहते हैं, इस तरह कोई दीक्षा नहीं ले सकती है।'

अनंतर महाराज जी ने भी मेरे से यही पूछा–

'तुम्हें वैराग्य कैसे हुआ? '

उस समय भी मैंने विनय से हाथ जोड़कर गुरूदेव से निवेदन किया कि–

'महाराज जी ! मुझे इस पद्मनंदिपंचविंशतिका ग्रंथ के स्वाध्याय से अच्छी तरह विदित हो गया है कि यह संसार असार है, इसमें एक संयम ही सार है।' पुनः इन्द्रत्वं च निगोदतां च.....दुःखं किंचित्.....सुखं किंचित्.....इत्यादि श्लोक बोलना शुरू कर दिया। कुछ क्षण बाद आचार्यश्री ने माँ से कहा–

'इस लड़की को सच्चा वैराग्य है, श्मशान वैराग्य, मर्कट वैराग्य अथवा क्षणिक वैराग्य नहीं है।'

अस्तु.....।

इस ग्रंथ के प्रसाद से मैंने तो दीक्षा ली ही तथा जिन्हें यह ग्रंथ दहेज में मिला था उन्होंने भी दीक्षा ले ली और आर्यिका रत्नमती माताजी के नाम से 13 वर्ष दीक्षित जीवन में रहने के पश्चात् हस्तिनापुर में उनकी सुन्दर समाधि हुई है। उन्होंने एक बार बताया था कि मैं जब घर में एक बार इस ग्रंथ को पढ़ रही थी तब मेरे मन में ब्रह्मचर्य व्रत की भावना उठी, मैंने मन में ही अष्टमी-चतुर्दशी को पूर्ण ब्रह्मचर्य पालने का नियम ले लिया था जिसे कि मैंने विवाह के बाद गार्हस्थ्य जीवन में परिपूर्ण निभाया था।'

इतना ही नहीं, उन्होंने इस ग्रंथ का स्वाध्याय कर-करके अपने बालक-बालिकाओं को दूध के साथ ऐसा अमृत पिला दिया था कि जिससे उनके धर्म संस्कारों से संस्कारित तथा मेरे निमित्त को पाकर उनकी पुत्री मनोवती भी आज आर्यिका अभयमती माताजी के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनकी पुत्री कु. माधुरी आज आर्यिका चंदनामती माताजी के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा इनके सुपुत्र रवीन्द्र कुमार शास्त्री भी आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत को लेकर दि.जैन त्रिलोक शोध संस्थान की उन्नति में तथा धर्मप्रभावना के बड़े-बड़े कार्यों में लगे हुए हैं और अपनी आत्मा का कल्याण करते हुए धर्म की सेवा में समर्पित हैं।

यह सब है इस ग्रंथ के स्वाध्याय का प्रसाद जो कि सभी गृहस्थों को ऐसे आदर्श देने की प्रेरणा दे रहा है। इस ग्रंथ की महिमा मैंने आपको इसलिए बताई कि इससे प्रेरणा पाकर धार्मिक ग्रंथों को दहेज में देने की परम्परा चले, जो प्रत्येक नवदंपत्तिको धर्मपथ में चलने की प्रेरणा देवे जिससे उनके गृहस्थ जीवन में धर्मपरंपरा अक्षुण्ण बनी रहेऔर उसके प्रसाद से उन सभी के जीवन में सुख-संपत्ति, संतति और शांति की वृद्धि हो।इसी भावना से मैंने आपको बताया है आप सभी श्रावकों को यह नियम करना चाहिए कि–

'हम अपनी कन्याओं को तो दहेज में धर्म ग्रंथ देंगे ही, साथ ही अन्य संबंधीजनों की कन्याओं को भी दहेज में अथवा भेंट में धर्मग्रन्थ अवश्य देंगे, तभी आज के युग में धन संपत्ति के दहेज की मांग कम होगी, जिससे कन्याओं का जीवन सुखी होगा और सर्व परिवारों में सुख, शांति का साम्राज्य फैलेगा।

प्रवचन–15

'शास्त्र स्वाध्याय कभी व्यर्थ नहीं जाता'

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने मूलाचार में कहा है–

विणयेण सुदमधीदं जदि वि पमादेण होदि विस्सरिदं।
त उवट्ठादिपरभवे केवलणाणं च आहवदि।।

इसका अर्थ यह है कि जो प्राणी विनयपूर्वक श्रुत/शास्त्र को पढ़ता है वह पढ़ा गया श्रुत आदि प्रमाद से कभी विस्मृत भी हो जावे, तो अगले भव में वह कभी न कभी उपलब्ध हो जाता है तथा केवलज्ञान को प्राप्त कराने में भी वह स्वाध्याय कारण बन जाता है।

जैन सिद्धान्त में चार अनुयोग माने गये हैं–प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इनका क्रमपूर्वक अध्ययन करना ही स्वाध्याय कहलाता है। शास्त्र को पढ़ते समय यदि कोई विषय आपकी समझ में भी नहीं आता है तो भी दुखी होने की आवश्यकता नहीं है। आज नहीं तो कभी न कभी वह विषय अवश्य ही समझ में आयेगा।

एक ब्राह्मण कन्या एक दिन अपनी सखियों के साथ दिगम्बर मुनिराज के दर्शन करने गई। वहाँ धर्मोपदेश सुनकर मुनि से उसने पाँच अणुव्रत ग्रहण किए और आशीर्वाद लेकर वापस घर आ गई। गुरुदेव दीर्घदर्शी थे अतः कन्या को घर जाते समय उन्होंने कहाकि बेटी! यदि माता-पिता को तेरे इन व्रतों से कोई कष्ट पहुँचे तो मुझे व्रत वापस करजाना।

यद्यपि व्रत कोई साग भाजी की तरह वापस नहीं होते हैं फिर भी गुरुदेव ने कुछ सोचकर कह दिया। कन्या ने घर जाकर जब यह बतलाया कि मैं आज दिगम्बर मुनि से हिंसा आदि पाँच पापों का एकदेश त्याग करके पाँच अणुव्रत ग्रहण करके आई हूँ तब उसके पिता ब्राह्मण देवता बहुत क्रोधित हो उठे और बोले कि अरे! उस नंगे की यह हिम्मत कैसे हुई? मेरे बिना पूछे तू उससे नियम क्यों लेकर आई? उस दिगम्बर ने जरूर तेरे ऊपर कोई जादू किया है, ये तो ठग होते ही हैं जो भी भोला प्राणी इनके चक्कर में आ जाता है उसे ही कुछ न कुछ नियम देकर फंसाते हैं। वह बेचारा ब्राह्मण सार्वभौम धर्म के ज्ञान से शून्य था इसीलिए ऐसी बातें कर रहा था।

बेटी ने घर में इतनी अशांति देखकर कहा कि पिताजी! गुरुदेव ने मुझसे यह भी कहा था कि यदि इन व्रतों से घर में किसी को कष्ट होवे तो मुझे वापस कर जाना। पुत्री के ये शब्द सुनकर पिताजी को कुछ राहत मिली और वे बोले–हाँ ठीक है, तू मेरे साथ चल, मैं इन व्रतों को वापस करके आऊँगा और उनसे यह भी पूछूँगा कि तूने मेरे बिना पूछे मेरी कन्या को व्रत क्यों दिया?

पिताजी के साथ पुत्री व्रतों को वापस करने के लिए घर से चल पड़ती है। चलते-चलते मार्ग में एक दृश्य उपस्थित होता है–

कई सिपाही एक व्यक्ति को बड़ी क्रूरतापूर्वक मार रहे हैं, बहुत सारी भीड़ वहाँ एकत्रित है। यह दृश्य देखकर कन्या ने पिताजी से पूछा–इस पुरुष को क्यों मारा जा रहा है? सोमशर्मा ब्राह्मण बोला–बेटी! इसने एक व्यक्ति की हिंसा की थी अतः राजा ने इसे प्राणदण्ड की सजा दी है। लड़की कहती है–पिताजी! इसी हिंसा को तो मुनि ने मुझे त्याग कराया है, फिर आप उसे वापस करने क्यों जा रहे हैं? बेटी की बात से निरुत्तर होकर सोमशर्मा कहने लगा–पुत्री! तेरी इच्छा है तो इस व्रत को रख ले, बाकी व्रत तो वापस करना ही है।

कुछ दूर आगे जाने पर एक अन्य व्यक्ति को देखा जिसकी जीभ काटी जा रही थी। पूछने पर ज्ञात हुआ कि यह झूठ बोलकर लोगों को ठगता है अतः इसे दण्डित किया जा रहा है। नागश्री नामक उस कन्या ने पिताजी से कहा कि मैं इस पाप का त्याग करके सत्याणुव्रत ग्रहण कर चुकी हूँ अतः उसे मैं कदापि नहीं छोड़ सकती हूँ। इसी प्रकार पाँचों पापों के दृश्य देखकर उसने पिताजी को राजी कर लिया फिर भी सोमशर्मा बोला–भले ही तू इन व्रतों को रख ले किन्तु मैं वहाँ चलकर उस मुनि को दो-चार बातें तो अवश्य सुनाऊँगा ताकि भविष्य में वे किसी को इस प्रकार व्रत न दे सकें।

मुनिराज के पास पहुँचते ही ब्राह्मण देवता गुर्रा करके बोले–क्यों रे नंगे! तूने मेरी लड़की को व्रत देकर क्यों ठग लिया? कई खरी-खोटी बातें सुनने के बाद मुनिराज शांत भाव से कहते हैं–यह लड़की तो मेरी है इसीलिए मैंने इसे व्रत दिए हैं। कन्या शांत भाव से बैठी थी, उसके पिता जी अब और परेशानी में पड़ गये, वे राजा के पास न्याय के लिए पहुँचे कि मेरी लड़की को यह नंगा अपनी पुत्री कह रहा है, आप चलकर उसे समझावें।

मुनिराज के पास भीड़ लगी थी। राजा आकर जब मुनिराज को कन्या वापस करने हेतु समझाने लगे तो मुनि कन्या को पास बुलाकर उसके मस्तक पर पिच्छी लगाते हुए बोले–हे कन्ये! पूर्व जन्म में वायुभूति नाम का तू मेरा पुत्र था, तब मैंने तुझे कई शास्त्र पढ़ाये थे। तू सबके सामने शास्त्र की उन समस्त बातों को सुना दे। इतना कहते ही नागश्री न जाने क्या-क्या सुनाने लगी, उसे पूर्वभव का जातिस्मरण हो गया था।

सारी सभा आश्चर्यचकित थी। राजा इस घटना को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। विस्तृत रूप से अवधिज्ञानी मुनि के मुखारविन्द से उनके और नागश्री के पूर्वभवों के संबंध सुनकर राजा को वैराग्य हो गया अतः उन्होंने, सोमशर्मा ने, नागश्री ने तथा अनेकों लोगों ने मुनि के चरण सानिध्य में मुनि-आर्यिका की दीक्षा ग्रहण कर ली।

यह है गुरुमुख से पढ़े गये श्रुत की महत्ता, जो अगले भव में दीक्षा प्राप्त कराने में भी कारण बन गया।

बचपन में पढ़ी गई विद्या जो बड़े होकर यदि भूल भी जाते हैं फिर भी किंचित् मात्र दूसरे से सुन लेने पर वह ज्यों की त्यों उपलब्ध हो जाती है क्योंकि उसके संस्कार तो मस्तिष्क में होते ही हैं।

मेरे गुरु आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज कहा करते थे-

''पठितव्यं खलु पठितव्यं अग्रे अग्रे स्पष्टं भविष्यति'' अर्थात् हमेशा पढ़ते रहो, आगे-आगे विषय स्पष्ट होगा। जैसे श्रावक की दैनिक षट् क्रियाओं में स्वाध्याय एक क्रिया है, उसी प्रकार मुनियों के 6 अंतरंग तपों में स्वाध्याय नाम का एक तप है। आप जगह-जगह सूक्तियाँ भी पढ़ते हैं–**''स्वाध्यायः परमं तपः''।**

वैसे तो श्रावकों के लिए मुख्यरूप से दान और पूजा ये दो क्रियाएँ आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी ने रयणसार में बतलाई हैं। इनके पालन बिना मनुष्य श्रावक नहीं कहलाता। पूजा करते हुए यदि उनकी पंक्तियों का अर्थ अच्छी तरह समझ में आता रहता है तो स्वाध्याय भी उसी में गर्भित हो जाता है।

स्वाध्याय के पाँच भेद हैं–वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश। जिस प्रकार लकड़ी के अन्दर विद्यमान अग्नि भी बिना जलाए प्रकट नहीं होती उसी प्रकार ज्ञान का दीपक जो हमारे भीतर ही विद्यमान है वह भी स्वाध्याय के बिना प्रदीप्त नहीं होता है अतः अंतरंग दीप को प्रज्वलित करने हेतु शास्त्र स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

हमारा भारत देश एक धनाढ्य देश है क्योंकि यहाँ के अनमोल साहित्य ने अन्य देशों में भी अपना कीर्तिमान स्थापित किया है। हमारे ही शास्त्रों के आधार पर वहाँ विभिन्न खोजें हो रही हैं। अन्तर यह हो गया है कि वैज्ञानिक केवल पुद्गल की खोज में लगे हुए हैं, आत्मा-चैतन्य की खोज से वे विमुख हो गये हैं। आज भूगोल और ज्योतिर्लोक का विषय प्रायः अछूता सा हो गया है। मात्र आत्मा की चर्चा करने वालों को यहभी ध्यान रखना आवश्यक है कि जब तक आप अपने निवास स्थान को नहीं जानेंगे, अन्य गतियों के बारे में नहीं जानेंगे, तब तक कर्मचक्र से छूटने का पुरुषार्थ भी नहीं कर सकेंगे।

एक ''जैन कास्मोलॉजी'' नामक अंग्रेजी पुस्तक इटली से प्रकाशित हुई है, जिसमें लेखक ने प्राचीन ग्रंथों के आधार से अनेकों चित्र तथा पर्याप्त विषय का प्रतिपादन किया है। सन् 1982 में ज्ञानज्योति के उद्घाटन के समय जब वह पुस्तक श्रीमती इन्दिरा गांधी को अवलोकनार्थ दी गई, तो वे उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुईं। जैसे साहित्य रचना व्यक्ति को अमर कर देती है उसी प्रकार साहित्य का स्वाध्याय भी मनुष्य जन्म को सार्थक कर देता है।

आप लोग प्रतिदिन किसी न किसी शास्त्र की 10-20 लाइनें अवश्य पढ़ें, आत्मा में ज्ञान का विकास करें और एक दिन स्वाध्याय के फल को प्राप्त करके रत्नत्रयरूप परिणत होवें, यही मेरा मंगल आशीर्वाद है।

G G G G G

प्रवचन–16

नूतन वर्ष-अभिनन्दन

आज भारत देश में वीर निर्वाण संवत्, विक्रम संवत्, शालिवाहन शक और ईसवी सन् आदि कई संवत्सर प्रचलित हैं। इनके प्रथम दिवस को वर्ष का प्रथम दिन मानकर नववर्ष की मंगल कामनाएं की जाती हैं। जैन धर्मानुयायी महानुभावों को किस वर्ष का कौन सा दिवस नववर्ष का मंगलदिवस मानना चाहिए? यह विचारणीय है।

आज ईसवी सन् अत्यधिक प्रचलित है। प्रायः कलेंडर, तिथिदर्पण और डायरियाँ भी इसी सन् से छपने लगी हैं। वास्तव में अंग्रेजों ने अपने भारत पर शासन करके अपना ऐसा प्रभाव छोड़ा है कि उसे मिटाना असंभव है। खैर! कोई बात नहीं,1 जनवरी से ईसवी सन् प्रारंभ होता है। इसे भी मान लीजिये-मना लीजिये कोई बाधा नहीं है।

कर्नाटक, महाराष्ट्र तथा गुजरात में विक्रम संवत् को अधिक महत्व दिया जाता है। मैंने श्रवणबेलगोल में देखा, जो लोग वर्ष भर वहीं रहकर भी चैत्रवदी अमावस्या (दक्षिण व गुजरात के अनुसार फाल्गुन कृ. अमावस्या) की रात्रि में पहाड़ पर जाकर सोते हैं और प्रातः उठते ही भगवान बाहुबली का दर्शन कर नूतन वर्ष की मंगल कामना करते हुए नीचे उतरते हैं। चैत्र शुक्ला एकम् से विक्रम संवत् का नया वर्ष शुरू होता है। आज पंचांग इसी संवत् से चल रहे हैं।

अनेक वर्षों से वीरनिर्वाण महोत्सव की चर्चा जैन क्या जैनेतरों में भी सारे देश में फैल चुकी है। पच्चीस सौवां निर्वाण महोत्सव भी एक वर्ष तक जैन के चारों संप्रदाय के महारथियों ने आगे होकर मनाया जिससे जैन के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के अहिंसा धर्म का प्रचार-प्रसार खूब ही हुआ है। अब तिथिदर्पण भी ''वीरनिर्वाण संवत्'' से निकाले जाने लगे हैं। वैसे पं. नाथूलाल जी शास्त्री द्वारा सम्पादित ''जैनतिथिदर्पण'' बहुत पुराना प्रतीत होता है। यह कब से चालू हुआ है मुझे मालूम नहीं है, फिर भी यह प्रामाणिक माना जाता है ।

आज जैन समाज में ही नहीं, जैनेतर समाज में भी वीरनिर्वाण दिवस की (दीपावली के दिन) रात्रि में गणेशपूजा और लक्ष्मी पूजा करके दुकान पर नूतन वसना और नूतन बही आदि बदलने की प्रथा है। इस दिन अनेक प्रबुद्ध जैन दुकान पर यन्त्र अथवा जिनवाणी रखकर भगवान महावीर की पूजा, सरस्वती की पूजा आदि करके मंगलाष्टक पढ़कर नूतन बहियों और वसनों पर स्वस्तिक, श्री आदि बनाकर ''श्री महावीराय नमः'' आदि मन्त्र लिखकर बही बदलने का मुहूर्त करके नया सम्वत् लिख देते हैं।

इस दिन लक्ष्मी-गणेश की पूजा के बारे में सही स्थिति का बोध कराने के लिये मैंने

श्री गौतमगणधर की पूजा और केवलज्ञान महालक्ष्मी की पूजा ऐसी दो पूजायें बनाई हैं, जम्बूद्वीप पूजांजलि में ये दोनों पूजायें छपी हुई हैं वहां से ले सकते हैं क्योंकि कार्तिक कृ0 अमावस्या को प्रातः प्रत्यूष बेला में भगवान महावीर स्वामी ने पावापुरी से निर्वाण प्राप्त किया था, उसी के उपलक्ष्य में स्वर्ग से इन्द्रों ने, असंख्य देव-देवियों ने आकर यहाँ पावापुरी में भगवान का निर्वाणोत्सव मनाया था और पावापुरी में दीपों को जलाकर उत्सव किया था उसी समय से आज तक प्रतिवर्ष अपने भारत देश में सायंकाल में सर्वत्र दीपक जलाकर ''दीपमालिका'' या दीपावली दिवस मनाया जाता है। जैसाकि हरिवंशपुराण में कहा भी है–

जिनेन्द्रवीरोऽपि विबोध्य संतत, समन्ततौ भव्यसमूहसंततिम् ।
प्रपद्य पावानगरीं गरीयसीं, मनोहरोद्यानवने तदीपके ।।15।।
चतुर्थकालेऽर्धचतुर्थ मासकै-र्विहीनताविश्चतुरब्दशेषके।
स कार्तिके स्वातिषु कृष्णभूतसु-प्रभातसन्ध्यासमये स्वभावतः।।16।।
अघातिकर्माणि निरूद्धयोगको, विधूप घातीन्धनवद्धिबन्धनः।
विबन्धनस्थानमवाप शंकरो, निरन्तरापोरूसुखानुबन्धनम् ।।17।।
स पंचकल्याणमहामहेश्वरः, प्रसिद्धनिर्वाणमहे चतुर्विधैः।
शरीरपूजाविधिना विधानतः, सुरैः समभ्यर्च्यत सिद्धशासनः।।18।।
ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया, सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया।
तदस्म पावानगरी समन्ततः, प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते ।।19।।
तथैव च श्रेणिक पूर्वभूभुजः, प्रकृत्य कल्याणमहं सहप्रजाः।
प्रजग्मुरिन्द्राश्च सुरैर्यथायथं, प्रयाचमाना जिनबोधिमर्थिनः ।।20।।
ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात्प्रसिद्धदीपालिकपात्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वर, जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक् ।।21।।

भगवान महावीर भी निरंतर सब ओर के भव्यसमूह को सम्बोधकर पावानगरी पहुँचे और वहाँ के ''मनोहरोद्यान'' नामक वन में विराजमान हो गये ।।15।। जब चतुर्थकाल में तीन वर्ष साढ़े आठ मास बाकी रहे तब स्वाति नक्षत्र में कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन प्रातःकाल के समय स्वभाव से ही योग निरोध कर घातिया कर्मरूपी ईंधन के समान अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर बन्धन रहित हो संसार के प्राणियों को सुख उपजाते हुए निरन्तराय तथा विशाल सुख से सहित निर्बन्ध– मोक्ष स्थान को प्राप्त हुए।।16-17।। गर्भादि पाँचों कल्याणकों के महान अधिपति, सिद्धशासन भगवान महावीर के निर्वाण महोत्सव के समय चारों निकाय के देवों ने विधिपूर्वक उनके शरीर की पूजा की।।18।। उस समय सुर और असुरों के द्वारा जलायी हुई बहुत भारी देदीप्यमान दीपकों की पंक्ति से पावानगरी का आकाश सब ओर से जगमगा उठा।।19।। श्रेणिक

आदि राजाओं ने भी प्रजा के साथ मिलकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की। तदनन्तर बड़ी उत्सुकता के साथ जिनेन्द्र भगवान के रत्नत्रय की याचना करते हुए इन्द्र देवों के साथ-साथ यथास्थान चले गये ।।20।। उस समय से लेकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की भक्ति से युक्त संसार के प्राणी इस भरतक्षेत्र में प्रतिवर्ष आदरपूर्वक प्रसिद्ध दीपमालिका के द्वारा भगवान महावीर की पूजा करने के लिए उद्यत रहने लगे। भावार्थ– उन्हीं की स्मृति में दीपावली का उत्सव मनाने लगे।।21।।

यह हुई दीपावली की बात, पुनः जो उसी दिन रात्रि में नूतन बही पूजन के साथ लक्ष्मी और गणेश की पूजा की प्रथा है उसमें भी रहस्य है। उसी दिन भगवान महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के बाद सायंकाल में श्री गौतमगणधर को केवलज्ञान प्रगट हुआ था तत्क्षण ही इन्द्रों ने आकर उनकी गंधकुटी की रचना करके उनके केवलज्ञान की पूजा की थी । **''गणानां ईशः गणेशः गणधरः''** ये पर्यायवाची नाम श्री गौतमस्वामी के ही हैं। सब लोग इस बात को न समझकर गणेश और लक्ष्मी की पूजा करने लगे। वास्तव में गणधर देव की, केवलज्ञान महालक्ष्मी की पूजा करनी चाहिए। खासकर जैनों को तो यही नूतन वर्ष मानना चाहिए। कार्तिक शु. प्रतिपदा (एकम) के दिन से ही तिथिदर्पण व कलेंडर छापना चाहिए।

वैसे मेरी दृष्टि में युगादि दिवस भी बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसकी तरफ प्रायः जैन धर्मानुयायियों का लक्ष्य नहीं है। यह मंगलमय दिवस है ''श्रावण कृष्णा प्रतिपदा'' यह प्रत्येक युग का आदि दिवस है इसलिये इसे ''युगादिदिवस'' कहा है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह-छह काल माने हैं। यथा–

अवसर्पिणी के सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमादुःषमा, दुःषमासुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमा। ये ही उत्सर्पिणी में उल्टे क्रम से चलते हैं। जैसे अतिदुःषमा आदि। इन सब कालों की समाप्ति आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा को होती है और प्रारम्भ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से होता है।

इस मंगल दिवस ही भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरी थी अतः आज इसे ''वीरशासन जयंती'' दिवस के नाम से मनाने की प्रथा है। इस विषय में तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में कहा है–

एत्थावसप्पिणीए चउत्थकालस्स चरिमभागम्मि।
तेत्तीसवासअऽमासपण्णरसदिवससेसम्मि ।।68।।
वासस्स पढममासे सावणणाममि बहुलपडिवाए।
अभिजोणक्खत्तम्मिं य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स।।69।।
सावणबहुले पाडिवरूद्दमुहुत्ते सुहोदये रविणो।
अभिजस्स पढमजोए जुगस्स आदो इमस्स पुढं।।70।।

यहाँ अवसर्पिणी के चतुर्थ काल के अन्तिम भाग में तेतीस वर्ष, आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रहने पर वर्ष के श्रावण नामक प्रथम महीने में, कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन अभिजित् नक्षत्र के उदित रहने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई।।68-69।।

श्रावण कृष्णा पड़िवा के दिन रूद्र मुहूर्त के रहते हुए सूर्य का शुभ उदय होने पर अभिजित् नक्षत्र के प्रथम योग में इस युग का प्रारम्भ हुआ, यह स्पष्ट है।।70।।

धर्मतीर्थ की उत्पत्ति का अर्थ है भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरी। धवला प्रथम पुस्तक में भगवान महावीर को ''अर्थकर्ता'' बताते हुये आचार्यश्री ने कहा है–

इमिसे वसप्पिणीए चउत्थ-समयस्स पच्छिमे भाए।
चौत्तीस-वास-ससे किंचि विसेसूणए संते ।।55।।
वासस्स पढम-मासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले।
पाडिवद-पुव्व-दिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि।।56।।
सावण-बहुण-पडिवदे रूद्द-मुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढम-जोए एत्थ जुगाई मुणेयव्वो ।।57।।

इस अवसर्पिणी कल्पकाल के दुःषमा-सुषमा नाम के चौथे काल के पिछले भाग में कुछ कम चौंतीस वर्ष बाकी रहने पर, वर्ष के प्रथम मास अर्थात् श्रावण मास में, प्रथम पक्ष अर्थात् कृष्णपक्ष में, प्रतिपदा के दिन प्रातःकाल के समय आकाश में अभिजित् नक्षत्र के उदित रहने पर तीर्थ अर्थात् धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई ।।55-56।।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन रूद्रमुहूर्त में सूर्य का उदय होने पर और अभिजित् नक्षत्र के प्रथम योग में जब युग की आदि हुई तभी तीर्थ की उत्पत्ति समझना चाहिए।।57।।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि ''श्रावण कृष्णा प्रतिपदा'' युग की आदि है। भगवान महावीर के मोक्ष जाने के बाद पांचवाँ काल प्रवेश होने में तीन वर्ष, आठ माह, पन्द्रह दिन बाकी रहे थे। तीन वर्ष– कार्तिक शुक्ला के पन्द्रह दिन और मगसिर से आषाढ़ तक आठ माह गिनने चाहिये।।

कर्नाटक मे लोग चैत्र शु.1 को ही 'युगादि अब्बा'' कहते हैं किन्तु वह तो विक्रमादित्य राजा से चला है। जैन ग्रंथों के अनुसार श्रावणकृष्णा एकम् ही युगादि पर्व है। दक्षिण में पर्व को ''अब्बा'' कहते हैं।

महानुभावों! मेरा अभिप्राय यही है कि आप जैन लोग वीर निर्वाण सम्वत् से ही ''नूतन वर्ष'' मनावें तथा श्रावण कृष्ण एकम् को ''वीरशासन जयन्ती'' और युगादि दिवस– पर्व अवश्य मनावें। यदि जैन ही अपनी संस्कृति का प्रचार-प्रसार नहीं करेंगे तो भला और कौन करेंगे? इसलिये वीर निर्वाण के दिन रात्रि में जैन विधि से बही और वसना आदि बदलकर कार्तिक शुक्ला एकम से ''नूतनवर्ष'' मानना चाहिये।

G G G G G

प्रवचन–17

गुरु संगति का प्रभाव

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति, सुप्रसिद्धमिदं वचः।।

आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी ने इन पंक्तियों में बड़ी सुन्दर नीति बतलाई है-''अज्ञानी की उपासना–संगति से प्राणी अज्ञान प्राप्त करता है तथा ज्ञानी की उपासना से ज्ञान प्राप्त करता है क्योंकि 'जिसके पास जो कुछ है, वह वही वस्तु प्रदान करता है' यह सुप्रसिद्ध बात है।

आप लोग तो दिन-रात यह अनुभव करते होंगे कि आपका बच्चा यदि बुरी संगति में फंस जाता है तो उसका उन्नति मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और आप अपने बच्चे को समझा-बुझाकर, डाँट-फटकारकर उसे बुरी संगति से हटाने का प्रयास भी करते हैं। बालक की बात तो जाने दीजिए, बड़े-बड़े महापुरुष भी दुर्जनों की संगति से पथभ्रष्ट होते देखे जाते हैं। इसीलिए कहा गया है कि आप अच्छे लोगों के साथ उठें-बैठें और दोस्ती करें ताकि कुछ ज्ञान की बातें जान सकें।

होटल के गंदे वातावरण, शराब की दुकानों, वेश्यालयों, जुआरियों और सिनेमा घरों से आज तक क्या किसी ने कोई नसीहत भी प्राप्त की है? यदि इन स्थानों पर उच्चादर्श मिल जाते तो बड़े-बड़े कॉलेज, विश्वविद्यालय खोलने की सरकार केआवश्यकता ही न पड़ती।

तत्त्वार्थसूत्र में एक छोटा सा सूत्र है–**''द्रव्याश्रयाः निर्गुणा गुणाः''** जिसका अर्थ है जो द्रव्यों के आश्रित रहते हैं वे गुण हैं। ये गुण स्वयं में निर्गुण हैं अर्थात् गुणों में गुण नहीं रहते हैं। आज कुछ विद्वान ऐसा भी अर्थ कर देते हैं कि गुणी द्रव्य के आश्रय से निर्गुण द्रव्य भी गुणी बन जाता है तथा ऐसा भी कहते देखे जाते हैं कि द्रव्य–धन के आश्रय से निर्गुणी–अज्ञानी (अनपढ़) भी गुणी महान बन जाता है क्योंकि 'बाप बड़ा न भैय्या सबसे बड़ा रूपैया'' यह संसार में कहावत ही है। अनेक धनी सेठ भी ऐसे ही देखे जाते हैं– अर्थात् उन्हें कुछ ज्ञान न होते हुए भी समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता है क्योंकि वे लखपति, करोड़पति हैं।

इसके विपरीत आप देखें कि पैसे के बिना ज्ञानी पुरुष की कोई कीमत नहीं होती है। लोग कहते हैं कि ''लक्ष्मी और सरस्वती का आपस में वैर है'' ज्ञानी–विद्वान के पास लक्ष्मी नहीं होती और धनवान के पास सरस्वती का वास–ज्ञान नहीं होता। आज हमारी समाज से विद्वानों की परम्परा समाप्त सी हो रही है, आज का श्रीमान हमारे विद्वान् का मूल्यांकन नहीं करता इसीलिए लोग प्रोफेसर बनना पसंद करते हैं, शास्त्री और आचार्य

नहीं बनना चाहते। जब तक हमारे पण्डितों में धन का लालच नहीं था, तब तक तो उनकी विद्वत्ता शुद्ध रहती थी अब लालच आ जाने से उस विद्वत्ता ने दिखावे का बाना पहन लिया है।

पूज्यपाद स्वामी ने बहुत सोच-समझकर ही यह श्लोक बनाया है कि जो वस्तु जिसके पास है ही नहीं, वह दूसरे को दे कैसे सकता है? कभी नहीं दे सकता है। हम साधु हैं, हमारे पास केवल पिच्छी-कमण्डलु है, वही आपको दे सकते हैं लेकिन आप हमसे माँगते ही नहीं हैं। आप तो भगवान के पास जाकर माँगते हैं, क्या? 'रागादिक दोष हरीजे, परमातम निज पद दीजे' शायद आप स्वयं नहीं जानते कि मैं माँग क्या रहा हूँ? भगवान तो कुछ बोलते नहीं अतः उनसे चाहे जो चीज माँग लो। वे कथंचित् देते भी हैं क्योंकि उनकी भक्ति से समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं परन्तु अगर आप हम लोगों के सामने यह एक बार भी कह दें कि 'गुरुवर निज पद दीजे' तो हमारे पास सब कुछ तैयार है समझे (मंद मुस्कान), इसीलिए हम एक पिच्छी-कमण्डलु हमेशा तैयार रखते हैं।

चलो, कोई बात नहीं! कम से कम आप वैसा बनें नहीं तो भी ज्ञानियों की संगति ही आपको ज्ञानी तो बना ही देगी। गुरुओं का तो एक क्षण का सानिध्य भी संसार सागर से पार करने वाला होता है। उत्तरपुराण में एक कथानक आया है–

एक ब्राह्मण अपनी गरीबी से तंग आकर आत्महत्या करने के भाव से एक पर्वत की चोटी पर चढ़ गया। वहाँ खड़े होकर वह बार-बार नीचे देखता, डर के मारे कूद नहीं पाता। मरना कोई हँसी खेल तो है नहीं, जो आत्महत्या करते हैं वे भी बार-बार सोचते अवश्य होंगे। वह बेचारा ब्राह्मण भी जीवन से परेशान होकर मरना तो चाहता था किन्तु पर्वत की तलहटी देखकर काँप जाता था कि कैसे चोट सहन करूँगा।

उसी पर्वत की तलहटी में एक अवधिज्ञानी मुनिराज के पास दो मुनि-शिष्य पढ़ रहे थे। वे बार-बार उस मनुष्याकार परछाईं को देखकर सोचने लगे कि पर्वत पर कौन है? उन्होंने गुरु से पूछा–भगवन्! यहाँ किसी मनुष्य की परछाईं दिखती है फिर लुप्त हो जाती है, आखिर इतने ऊँचे पर्वत पर कौन सा मनुष्य हो सकता है?

गुरु ने अपने दिव्यज्ञान से बतलाया कि यह एक ब्राह्मण मनुष्य है, अपनी निर्धनता से घबड़ाकर आत्महत्या के विचार से पर्वत पर चढ़ा है लेकिन इसके हृदय में मरने का भय व्याप्त है इसलिए बार-बार नीचे देखकर पीछे हट जाता है। उन मुनिराज ने यह भी बताया कि कालांतर में यह तुम दोनों का पिता होने वाला है, तुम इसके पुत्र बनोगे।

यह भविष्यवाणी सुनकर दोनों मुनियों के हृदय में धर्मप्रेम उमड़ पड़ा और वे पर्वत के ऊपर जाकर उस ब्राह्मण को समझाकर गुरु के पास ले आये। कुछ दिन गुरुचरणों में

रहने से, उनके उपदेशों से उसके हृदय में शान्ति उत्पन्न हुई और वैराग्य भाव से उसने मुनि दीक्षा धारण कर ली। घोरातिघोर तपश्चरण करके समाधिमरण से उन्होंने स्वर्ग प्राप्त किया। कालान्तर में वह ब्राह्मण का जीव वसुदेव हुआ और वे दोनों मुनियों के जीव उसके बलभद्र और नारायण श्रीकृष्ण नाम के पुत्र हुए।

यह था क्षण भर गुरु संगति का प्रभाव! कहाँ तो आत्महत्या जैसे निंद्य परिणामों के द्वारा तीव्र पाप बंध कर रहा था और कहाँ मुनि बनकर कल्याण कर लिया। आत्महत्या करने वाला तो नरक-निगोदों के दुःख भोगता ही है, आत्महत्या का विचार करने वाला प्राणी भी अनेक बार गर्भ में गल-गलकर मरता है, ऐसा आगम में बतलाया है। अतः आत्मघातियों को विचार करना चाहिए कि जिस दुःख से छूटने के लिए तुम विष खाते हो, फांसी लगाते हो, विषैली दवाइयाँ खाकर अपने जीवन का अन्त करना चाहते हो, उनका अंत कहाँ हुआ? उससे भी अधिक दुःखों को तुम आमंत्रित कर रहे हो। हे भव्यप्राणियों! आत्महत्या जैसे घ्रणित शब्दों को तुम जीवन से निकाल दो, धर्म की शरण में आओ, यह तुम जैसे दुखियों की रक्षा करने वाला अकारणबंधु है।

मानव एक विज्ञ प्राणी है जो आज आकाश की ऊँचाइयों को छू रहा है, वह ऐसे निंद्य विचारों की ओर जाने का प्रयास क्यों करता है? ऐसी कौन सी मजबूरियाँ हैं उसके जीवन की? इन पर चिंतन करने से ज्ञात होता है कि मानव की विकृत बुद्धि का कुप्रभाव ही उसके अमूल्य जीवन को संसार के गड्ढे में धक्का दे-देकर गिरा रहा है। यह जीव अनादिकाल से 14 राजू प्रमाण लोक में भ्रमण कर रहा है इन तीनों लोकों में कोई भी ऐसा स्थान नहीं बचा जिसमें उसने जन्म न लिया हो। केवल सुमेरु पर्वत की जड़ में 8 प्रदेश ऐसे हैं जहाँ हम और आप कभी नहीं गए, बाकी सब जगह घूम चुके हैं। सिद्धशिला पर भी गए किन्तु सिद्ध बनकर नहीं, सूक्ष्म निगोदिया बनकर। सिद्ध बनने के बाद तो जीव संसार में वापस आता नहीं है। गुरुणां गुरु चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज कहा करते थे-यदि तुम संसार भ्रमण से थके नहीं हो तो घूमते रहो चतुर्गति में, कोई रोकने वाला नहीं है। यदि भव भ्रमण से थकान आ गई हो, तो संयम ग्रहण करो, अणुव्रती बनो, तभी चतुर्गति यात्रा समाप्त हो सकती है।

चार विध दान का फल

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद् भवेत्।।

अर्थ–मनुष्य ज्ञानदान से अर्थात् शास्त्रों के दान से या विद्या के दान से ज्ञानवान् होता है। अभयदान देने से निर्भय हो जाता है। आहारदान देने से हमेशा सुखी होता है और औषधिदान के देने से हमेशा निरोग रहता है।

प्रवचन–18

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में
पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा
एक आध्यात्मिक प्रवचन

(पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ने 9 जनवरी 2005 को एशिया के प्रथम पंक्ति के विश्वविद्यालयों में से मुख्य विश्वप्रसिद्ध बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के मालवीय भवन में विश्वविद्यालय परिवार एवं जैन समाज के सैकड़ों प्रबुद्धजनों को आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा रचित समयसार एवं जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का जो अध्यात्म-पीयूष पिलाया, वह सभी के मन-मस्तिष्क पर अमिट छाप छोड़ गया। पूज्य माताजी के मुखारविंद से प्रवाहित होती हुई धर्मामृत की अविरल धारा अपने आप में अत्यन्त अनुपम थी एवं सभी के ऊपर उसका विलक्षण प्रभाव दृष्टव्य हुआ। मालवीय भवन में रविवासरीय गीता प्रवचन के अंतर्गत पूज्य माताजी ने समयसार की दृष्टि से अत्यन्त मार्मिक आध्यात्मिक प्रवचन प्रस्तुत किया।)

भव्यात्माओं! हमारी और आपकी आत्मा सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी है परन्तु कर्मरूपी रज से आच्छादित होने के कारण यह सब कुछ जानने में समर्थ नहीं हो पा रही है। जिस प्रकार बादलों से ढककर सूर्य का अस्तित्व धूमिल हो जाता है, उसी प्रकार कर्मरूपी बादल आत्मा के सर्वज्ञ स्वरूप को धूमिल कर देते हैं। सारी उपासना का एकमात्र सार यही है कि हम अपने उस सर्वज्ञ–सर्वदर्शी स्वरूप को उपलब्ध कर लें। जिन महान आत्माओं ने अपने समस्त कर्ममल को विनष्ट कर दिया, वे ही चिच्चैतन्यमयी सिद्ध-आत्मा के रूप में सदैव के लिए सिद्धशिला पर जाकर विराजमान हो गये। हम जैसे समस्त संसारी प्राणियों का भी एकमात्र वही शाश्वत लक्ष्य होना चाहिए।

सभी महान आचार्यों ने जो 'सारों में भी सार' बताया है, वह है ध्यान अर्थात् योग अर्थात् समाधि क्योंकि ध्यान के बल पर ही हम अपने ज्ञान को परिपूर्ण केवलज्ञान बना सकते हैं। समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि आत्मा एक है, शाश्वत है एवं ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला है। ज्ञान-दर्शन जिसमें घटित होता है, वही जीव कहलाता है और जिसमें घटित नहीं होता है, उसे अजीव कहते हैं। समय का अर्थ है आत्मा और आत्मा का सार है-पूर्ण ज्ञान की अवस्था।

देह अर्थात् शरीर को अपना मानना अथवा 'शरीर ही मैं हूँ' ऐसा मानना अथवा शरीर के जन्म और मरण के साथ अपना जन्म और मरण मानना, यही संसार के मूल कारण हैं। अर्थात् **शरीर को आत्मा मान लेना ही सांसारिक परिभ्रमण का आधारभूत**

कारण है, जिसे बहिरात्मपने की संज्ञा भी दी जाती है। यदि हम अपनी आत्मशक्ति को अनुभव कर लें तो बाह्य संसार की कोई भी शक्ति हमें प्रभावित नहीं कर सकती। साधुगण शरीर से मोह छोड़ने के लिए कठोर साधना करते हैं ताकि वे चैतन्य धातु से निर्मित अशरीरी बन जावें। जीव अर्थात् आत्मा में वर्ण, गंध, रस, रूप, संस्थान, संहनन इत्यादि कुछ भी नहीं है, वास्तव में ये सभी पुद्गल शरीर के ही गुण विशेष हैं। आत्मा शक्तिरूप में सदाशिव है एवं कर्ममल से अस्पृष्ट होने पर इसका यह स्वरूप प्रकट हो जाता है।

संसार में मोह एवं अज्ञान ही सबसे बड़ा अंधकार है, जिसके वशीभूत होकर जीव वस्तु-स्वरूप को न समझते हुए चतुर्गति परिभ्रमण किया करता है।

धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग, जाति इत्यादि सब भिन्न-भिन्न अवयव हैं। इनमें से धर्म का स्थान सबसे ऊँचा है। धर्म और सम्प्रदाय कभी एक नहीं हो सकते हैं। धर्म सदैव सम्प्रदायातीत है। **वास्तव में जो उत्तम सुख में धरे, वही धर्म है।** धर्म शाश्वत है जबकि सम्प्रदाय क्षणिक है। धर्म अभेद को उत्पन्न करके सबको जोड़ता है जबकि सम्प्रदाय आपस में बाँटने का कार्य करता है अतः जीवन के शाश्वत सिद्धान्तों को समझते हुए सम्प्रदाय से ऊपर उठकर धर्म को ग्रहण करना चाहिए।

जैनशासन को 'शम-दम' शासन कहा गया है क्योंकि क्रोध, मान, माया, लोभरूपी कषायों से स्वयं को क्रमशः पृथक् कर देने (शम) एवं इन्द्रियों के निरोध करने (दम) का उपदेश तीर्थंकर भगवन्तों ने विशेषरूप से दिया है।

क्रोधरूपी कषाय को क्षमारूपी जल से शांत करने हेतु संसार में सबसे बड़ा उदाहरण है भगवान पार्श्वनाथ का, जो 2880 वर्ष पूर्व इसी वाराणसी नगर में जन्मे थे। दश भवों तक कमठ के जीव ने भगवान पार्श्वनाथ के जीव पर हर संभव उपसर्ग किया परन्तु क्षमा एवं सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति भगवान पार्श्वनाथ के जीव ने सदैव ही इसे अपने कर्मों का ही प्रतिफल मानते हुए पूर्ण शांति को धारण किए रखा और इस प्रकार एक हाथ से ताली बजने एवं एकतरफा वैर का यह उदाहरण दृष्टव्य हुआ। वस्तुतः सच्चे तापसी अपनी तपस्या द्वारा कषायरूपी परम शत्रुओं को ही तपाकर वास्तविक अर्थ की सिद्धि किया करते हैं। कषाय और तपस्या का पूर्णतः अन्तर्विरोध रहता है।

हमारी भारतीय संस्कृति में नारी के सतीत्व की अनेकों गौरव गाथाएँ भरी पड़ी हैं। शील नारी का सबसे बड़ा आभूषण हैं और **शीलहरण संसार में सबसे बड़ा पाप है।** सीता के मन में रावण के प्रति अणुमात्र भी राग नहीं था, एकमात्र रावण के मन में ही सीता के प्रति रागयुक्त आसक्ति थी। यद्यपि सीता की इच्छा के विरुद्ध रावण ने उनका शीलहरण नहीं किया तथापि गलत भावना मात्र से ही आज तक संसार में रावण का पुतला जलाया जाता है एवं कोई भी अपने बालक का नाम रावण नहीं रखता। एकदेश

ब्रह्मचर्यव्रत अर्थात् शीलव्रत अर्थात् अपने पति/पत्नी में पूर्ण संतोष रखना अथवा पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत भारतीय संस्कृति का ठोस आधार है।

स्वप्न में भी बदला लेने की भावना नहीं रखना जैन चर्या का मूलभूत सिद्धान्त है। आत्मा के कल्याण के अभिलाषी पुरुष किसी अन्य द्वारा उपसर्ग किए जाने पर यही विचार करते हैं कि यह मेरा परम उपकारी है जो कि मुझे मेरे कटु कर्म से मुक्ति दिलाने में निमित्त बन रहा है। मेरे अपने कर्मफल के अतिरिक्त किसी में भी मेरा घात करने की क्षमता नहीं है। आत्मकल्याणरूपी धर्म की रक्षा करते हुए भले ही शरीर छूट जाए परन्तु वैर भाव करना उचित नहीं है। यदि बदला लेने की भावना हृदय में है तो इसका अर्थ है कि साधक की दृष्टि अभी समीचीन नहीं हो पाई है। क्रूरता, क्रोध, दोष, विकृतियाँ इत्यादि आत्मा की सच्ची विभूति नहीं हैं, इनके माध्यम से तो हम अपना ही घात करते हैं। **अंगारा पहले फेंकने वाले के हाथ को जलाता है,** पुनः ही दूसरे का घात कर सकता है अथवा नहीं भी। यदि सामने वाले का पुण्य क्षीण होगा तो ही उसकी हानि होगी अथवा नहीं परन्तु अंगारा फेंकने वाला तो निश्चितरूप से जल ही जायेगा।

निश्चय हमको करना है कि हमें क्या बनना है – भगवान पार्श्वनाथ अथवा कमठ। भगवान पार्श्वनाथ जिन्होंने क्षमा एवं सहनशीलता का आश्रय लेकर स्वयं को तीर्थंकर बना लिया अथवा कमठ जिसने हर भव में वैर, बदला लेने की भावना, हिंसा आदि के आश्रय से स्वयं को नरक एवं पशुगति के अपार दुःखों में डाला। हमारे एक हाथ में चिंतामणि रत्न है और दूसरे हाथ में खली का टुकड़ा है, अब हमारे ऊपर निर्भर है कि हम किसे अपनाते हैं? मनुष्य पर्याय और शाश्वत धर्म की धारा चिंतामणि रत्न है जबकि विषयासक्ति, क्रोध-मान-माया-लोभ इत्यादि कषाय खली के टुकड़े हैं। यदि इस कलिकाल में भी हमको धर्मरूपी रत्न की प्राप्ति हो गई है तो हमारे लिए यह काल भी अत्यन्त उत्तम है। **हमें इस उत्तमता पर महान गौरव होना चाहिए कि हमको मनुष्य भव एवं धर्म के रूप में महान निधि अथवा सब कुछ मिल गया है।**

जो आत्मा जन्म और मरण के चक्र में उलझा हुआ है, वही अहिंसारूपी परम धर्म को अपनाकर भगवान आत्मा बन सकता है। जब पाषाण में संस्कारों को आरोपित करके उसे भगवान की प्रतिमा के रूप में पूज्य बना दिया जाता है, तब तो चैतन्य आत्मा पर संस्कार डालते रहने से वह भगवान-आत्मा क्यों नहीं बन जायेगा?

इस विश्वप्रसिद्ध काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले विद्यार्थीगण यहाँ से इस प्रकार के संस्कार लेकर समाज में आगे आएँ कि जिससे भारतीय संस्कृति का गौरव सम्पूर्ण विश्व को आश्चर्यचकित कर सके, यही मेरी मंगल भावना है।

G G G G G

प्रवचन–19

जिनेन्द्र पूजा एवं दान श्रावक के लिए आवश्यक है

श्रीमुखालोकनादेव, श्रीमुखालोकनं भवेत् ।
आलोकन विहीनस्य, तत्सुखावाप्तयः कुतः।।

श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि श्री जिनेन्द्र भगवान के मुखावलोकन–दर्शन से श्रीमुख–लक्ष्मी का अवलोकन–धन की प्राप्ति होती है तथा जो श्रीमुख का दर्शन नहीं करता, उसे उस सुख की प्राप्ति भला कैसे हो सकती है?

यहाँ पर अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार की लक्ष्मी प्राप्ति हेतु जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करना बतलाया है।

भावसंग्रह ग्रंथ में आचार्य श्री देवसेन स्वामी ने भी कहा है–

''देवपूजां बिना सर्वा दूरा सामायिकी क्रिया''

अर्थात् देवपूजा के बिना सामायिक आदि क्रियायें भी अधूरी मानी जाती हैं।श्रावक या श्राविका जब तक पिच्छी धारण करके साधु नहीं बनते है तब तक उनके लिए दान-पूजन आदि क्रियाएँ आवश्यक हैं। कोई श्रावक यदि मात्र सामायिक करके संतुष्ट होनाचाहे अथवा बिना द्रव्य चढ़ाए भावपूजा कर लेवे, तो यह उसके लिए दोषास्पद है। भावपूजा तोमात्र साधुओं के लिए है क्योंकि उनके पास द्रव्य है ही नहीं। श्रावक-श्राविका तो अपने पोषण हेतु भोजन वस्त्रादि के निमित्त द्रव्य रखते हैं, तो उन्हें द्रव्यपूजा में कभी भी प्रमाद नहींकरना चाहिए। पद के अनुसार ही आचार्यों ने क्रियाओं का विभाजन किया है।**''बिना पिच्छी ग्रहण किये साधु जैसी क्रिया करके उनके सदृश ही अपने को पुजवाने से नीच गोत्र का आश्रव होता है।''** यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए। इसीलिए आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने श्रावकों के लिए रयणसार में **''दाणं पूजा मुक्खो, सावयधम्मो ण सावया तेण विणा''** कहकर श्रावकों को उनके कर्तव्य का परिचय कराया है तथा साधुओं के लिए**'झाणज्झयणं मुक्खो''** अर्थात् ध्यान और अध्ययन मुख्य बतलाया है।

आदिपुराण में पूजा के 5 भेद माने हैं–नित्यमह, आष्टान्हिक, इन्द्रध्वज, चतुर्मुख और कल्पद्रुम। प्रतिदिन अभिषेकपूर्वक पूजन करना तो नित्य महापूजा है ही, इसके साथ-साथ मंदिर का निर्माण कराना, मंदिर में पूजन हेतु स्थाई दान देना, खेत आदि मंदिर के नाम कर देना, मुनियों को दान देना आदि भी नित्य पूजा में शामिल है।

भगवान तो कृतकृत्य हो चुके हैं आप उनकी पूजा करें या न करें, उनकी महिमा में कोई अंतर नहीं आता लेकिन पूजा करने वाला भक्त परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है।

श्री पद्मनंदि आचार्य ने कहा है कि जैसे मकान बनाने वाला मिस्त्री पहले नीचे-नीचे सीढ़ी बनाकर फिर धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता जाता है, उसी प्रकार से साधु के साथ-साथ श्रावक भी दान के प्रभाव से धीरे-धीरे ऊपर उठ जाता है। एक गरीब ब्राह्मण की पत्नी खेत में काम करने के बाद मजदूरी से प्राप्त धान्य (जौ) लेकर आई और नित्य की भांति उसने आटा पीसकर तीन लड्डू बनाए। एक अतिथि के लिए, एक पति के लिये और एक अपने लिए। रसोई बनाने के बाद वह द्वारापेक्षण के लिए घर के बाहर खड़ी हो गई। संयोगवश एक मासोपवासी मुनिराज वहाँ आ गये। महिला ने पड़गाहन किया और क्रम-क्रम से तीनों लड्डू महाराज को आहार में दे दिये। उसने सोचा कि आए हुए अतिथि को भूखे रखना ठीक नहीं है, हम लोग आज उपवास कर लेंगे। महाराज के आहार के बीच में ही उस ब्राह्मण के घर में रत्नादि पंचाश्चर्य की वृष्टि होने लगी । नगर के राजा को जब यह सब पता लगा तो उन्होंने ब्राह्मण को बुलाकर पूछा कि मेरे महल में तो रत्नवृष्टि कभी नहीं हुई, तेरे घर में इतने रत्न कैसे बरस गए? ब्राह्मण बोला–राजन् ! ये सब आहारदान का चमत्कार है। राजा बोले–तू अपना पुण्य मुझे दे दे। किन्तु यह विचारणीय विषय है कि भला किसी का कर्म कोई कैसे ले सकता है?

सत्पात्र को आहारदान देने वाला जीव नियम से नरक में नहीं जाता है। चतुर्थकाल के मुनियों के आहारदान में तो रत्नवृष्टि हुआ करती थी, आज के साधुओं में इतना चमत्कार तो नहीं किंतु थोड़ा बहुत अतिशय अवश्य देखा जाता है। वर्तमान में साधुओं को आहार देने वाले श्रावक कभी गरीब–दरिद्र नहीं देखे जाते हैं।

मैं बंगाल प्रांत में विहार कर रही थी, तो पुरलिया नामक गांव से विहार करने के बाद वहाँ के सेठ उम्मेदमल की धर्मपत्नी ने आकर मुझसे कहा कि जिस दिन से आपने हमारे यहाँ से विहार किया है, उसी दिन से हमारी गाय ने शाम को दूध देना बंद कर दिया है। मैंने हँसकर कहा–मेरे विहार से आपकी गाय का भला क्या सम्बन्ध? तब वे बोलीं–अब तक मैं गुरुओं की महिमा सुना ही करती थी, आज प्रत्यक्ष में देखने का अवसर मिला। हमारे संघ की अन्य आर्यिकाएँ आश्चर्यपूर्वक उनसे पूछने लगीं। तब उन्होंने बताया कि मेरी गाय हमेशा तो केवल एक टाइम दूध दिया करती थी किन्तु जब माताजी का संघ यहाँ आया, तब आपके संघ की ब्रह्मचारिणी मनोवतीबाई (वर्तमान में आर्यिका अभयमती जी) ने कहा कि बड़ी माताजी के लिए मुझे मट्ठा बनाने हेतु शाम को दूध चाहिए। मैं बोली–बहन जी! क्षमा करें, मेरी गाय तो केवल सुबह एक समय ही दूध देती है। फिर भी कुछ सोचकर हम दोनों बर्तन लेकर गाय के पास पहुँचे। आश्चर्य की बात थी उसने सुबह जितना ही शाम को भी दूध दुहने दिया और संघ रहने तक बराबर इसी प्रकार दोनों टाइम दूध देती रही और दही-मट्ठा बनता रहा। जिस दिन माताजी ने वहाँ से विहार कर दिया, उसी दिन से फिर शाम का दूध बन्द हो गया। मेरे घर में तो

सभी लोग कहते हैं कि यह सब माताजी का ही प्रभाव था।

मैंने सारी घटना सुनकर कहा–यह तो कोई खास बात नहीं है, साधुओं की तपस्या से तो न जाने कितने अतिशय हो जाते हैं। यदि मुझे पहले वहीं पर तुम बता देतीं, तो मैं उस मट्ठे को कभी न लेती, क्योंकि तुम तो मेरे निमित्त से ही वह मट्ठा बनाती होगी। खैर! वह बेचारी डर सी गई, कहने लगी–माताजी! साधुओं की बीमारी का इलाज करना तो हम श्रावकों का कर्त्तव्य है फिर हम तो सब साधुओं को भी देते थे और खुद भी पीते थे।

जब हृदय में साधुओं के प्रति वात्सल्य भाव उत्पन्न होता है तो असीम आनन्द की प्राप्ति होती है और सारे मनोरथ भी सिद्ध होते हैं। भक्ति को आचार्यश्री समन्तभद्र स्वामी ने कामधेनु की उपमा दी है–**'कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम्'** भगवान ऋषभदेव को यदि राजा श्रेयांस ने आहार न दिया होता, तो आज साधुओं के दर्शन नहीं होते। चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने इस युग में जन्म लेकर साधुओं को मार्गदर्शन प्रदान किया। वे उत्तर भारत में भी आये और दिल्ली के चौराहों पर खड़े होकर फोटो खिंचवाए, ताकि भविष्य में कभी जैन साधुओं के विहार पर प्रतिबन्ध न रहे। कुछ कुतर्कियों ने इस विषय पर विरोध भी प्रदर्शित किया कि आचार्यश्री को फोटो खिंचवाने का बड़ा शौक है। तब आचार्यश्री ने अपनी प्रवचन सभा में इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि मुझ दिगम्बर को फोटो से क्या लाभ? मेरे पास तो फोटो रखने की जगह भी नहीं है लेकिन ये फोटुएँ युग-युग तक स्मरण कराएंगी कि परतन्त्रयुगीन भारत में भी जैन साधु गली-गली में विचरण करते थे।

2500वें निर्वाणोत्सव के समय आचार्यश्री धर्मसागर महाराज, देशभूषण महाराज और मुनि विद्यानन्दि जी ने समस्त साधुवर्गों का समीकरण बनाकर देशव्यापी धर्मप्रभावना की। उस समय दिल्ली के लोग आचार्य धर्मसागर जी महाराज के संघ को दिल्ली लाने से डर रहे थे क्योंकि वे विशेष त्याग नियम करवाकर श्रावकों से आहार लेते थे। मैंने दिल्ली वालों को समझा-बुझाकर आचार्यश्री के पास निवेदन करने अलवर (राज.) भेजा। आप सबके पुण्योदय से वे संघ सहित दिल्ली आए, पश्चिमी उत्तरप्रदेश में भी उनके चातुर्मास हुए। उनकी निस्पृहता एवं सिंहवृत्ति से आज इधर का बच्चा-बच्चा परिचित है।

धर्म की प्रभावना तो श्रावक और साधु दोनों से मिलकर होती है। हम लोग आगम आधार को लेकर ही समाज का मार्गदर्शन करते हैं। आचार्य शांतिसागर महाराज ने भी आगम पढ़कर पहले अपनी चर्या को निर्दोष बनाया। उन्होंने मुनिश्री देवेन्द्रकीर्ति जी से क्षुल्लक एवं मुनिदीक्षा धारण की पुनः मूलाचार, भगवती आराधना, अनगारधर्मामृत आदि ग्रंथों को पढ़ा। उस समय दक्षिण में ऐसी परम्परा थी कि मंदिर के उपाध्याय (पुजारी) जिस घर में भोजन बनाने को कह देते थे, उसी घर में मुनि महाराज जाकर

आहार ग्रहण कर लेते थे किन्तु शांतिसागर महाराज जब वृत्तपरिसंख्यान (नियम) लेकर सारे गाँव-शहरों में चर्या करने लगे, ज्यादा चौके न लगने के कारण महाराज के उपवास होने लगे, तब श्रावक लोग पुजारी को डांटने-फटकारने लगे। उस पुजारी ने श्रावकों को शास्त्रोक्त आहारचर्या बतलाई और तब लोगों ने घर-घर चौके लगाकर पड़गाहन करना शुरू किया।

आप लोगों को सुनकर आश्चर्य होगा कि आचार्यश्री ने अपने 36 वर्ष के दीक्षित जीवन में साढ़े पच्चीस वर्ष उपवास में व्यतीत किये तथा मात्र साढ़े नौ वर्ष आहार ग्रहण किया। जिन्होंने ऐसे महातपस्वी का दर्शन भी कर लिया मानों संसार से तिर गये।

शास्त्रों में मुनियों को जिनेन्द्र का लघुनन्दन माना गया है और उनकी सेवा, वैय्यावृत्ति, आहारदान आदि को नित्यमह पूजन में गर्भित किया है।

मैंने अपने 40 वर्ष के दीक्षित जीवन में आचार्यश्री शांतिसागर महाराज से लेकर आज तक सैकड़ों साधु देखे किन्तु आचार्यश्री के समान तो दूसरा कोई न हुआ न होगा। वे तो वास्तव में सुदृढ़ चारित्र और तप की साक्षात् मूर्ति थे। इसीलिए उनकी चारित्रचक्रवर्ती उपाधि सार्थक थी। आप सभी श्रावक हैं अतः गुरुचरणों के भक्त बने रहें, दान-पूजन की सार्थकता समझकर उससे जीवन को अलंकृत करें, यही मेरा मंगल आशीर्वाद है।

श्रुतज्ञान महान वृक्ष सदृश है।

अनादिकाल की अविद्या के संस्कार से प्रत्येक मनुष्य का मन मर्कट के समान अतीव चंचल है। उसको रमाने के लिए श्री गुणभद्र सूरि इस श्रुतज्ञान को महान वृक्ष की उपमा देते हुए कहते हैं–

'अनेकांतात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते।
वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।।
समुत्तुंगे सम्यक्प्रततमतिमूले प्रतिदिनं।
श्रुतस्कंधे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्।।170।।

जो श्रुतस्कंधरूप वृक्ष अनेक धर्मात्मक पदार्थरूप फूल एवं फलों के भार से अतिशय झुका है, वचनोंरूप पत्ते से व्याप्त है, विस्तृत नयोंरूप सैकड़ों शाखाओं से युक्त है, उन्नत है तथा समीचीन एवं विस्तृत मतिज्ञानरूप जड़ से स्थिर है, उस श्रुतस्कंध वृक्ष के ऊपर बुद्धिमान साधु अपने मनरूपी बंदर को प्रतिदिन रमण करावें।

इस श्रुतस्कंध वृक्ष में चारों ही अनुयोग समाविष्ट है क्योंकि एक अनुयोग से होने वाला ज्ञान अपूर्ण ही है।

-आत्मानुशासन

प्रवचन–20

जैनधर्म कर्मसिद्धान्त पर आधारित है

जैन सिद्धान्त के अनुसार समय की परिभाषा अत्यन्त सूक्ष्म बताई है। एक आवली मात्र में असंख्यात समय माने हैं। प्रत्येक जीवात्मा में प्रतिसमय कर्म के परमाणु आते रहते हैं। गोम्मटसार कर्मकांड में आचार्यश्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने कहा है–

सिद्धाणंतिम भागं अभव्वसिद्धादणंत गुणमेव।
समयपबद्धं बंधदि जोगवसादो दु विसरित्थं।।

अर्थात् यह आत्मा सिद्ध जीवराशि के अनन्तवें भाग और अभव्य जीवराशि से अनन्तगुणे समयप्रबद्ध को एक समय में बांधता है परन्तु मन-वचन-काय की प्रवृत्तिरूप योगों की विशेषता से कभी थोड़े और कभी बहुत परमाणुओं का भी बंध करता है।

सारांश यह है कि परिणामों में कषाय की अधिकता तथा मन्दता होने पर आत्मा के प्रदेश अधिक या कम चलायमान होते हैं, तब कर्मपरमाणु भी ज्यादा अथवा कम बंधते हैं। जैसे अधिक चिकनी दीवाल पर धूलि अधिक लगती है और कम चिकनी दीवाल पर कम लगती है, वैसे ही राग भाव से चिकनी आत्मा अपनी कम या अधिक चिकनाई के अनुसार कर्म परमाणुओं को ग्रहण करता है।

संसार में कर्मों का मीटर प्रतिक्षण चालू रहता है। चाहे आप सो रहे हों या जागृत अवस्था में हों, कभी कर्म के चक्र से छूट नहीं सकते। कर्मों से छूटने के लिए निर्ग्रन्थ अवस्था धारण करनी पड़ती है। मोक्षपाहुड़ में कहा भी है–

धुवसिद्धी तित्थयरो, चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा, तवयरणं णाणजुत्तोवि।।

अर्थात् 'तीर्थंकर भगवान मोक्ष प्राप्त करेंगे' यह बात नियम से सिद्ध है-निश्चित है फिर भी वे राजपाट छोड़कर दीक्षा धारण करते हैं। वे गर्भावस्था से ही मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानों के धारी होते हैं एवं दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो जाता है। हालांकि केवलज्ञान प्राप्त होने तक प्रत्येक तीर्थंकर मौन रहते हैं और केवलज्ञान के बाद उनकी ओंकार- रूप दिव्यध्वनि खिरती है जो कि समस्त भव्यप्राणियों के लिए हितकारी होती है।

भगवान ऋषभदेव ने एक हजार वर्षों तक तपस्या की और भगवान महावीर ने बारह वर्ष तप किया था, यह तो अपने पूर्व कर्मों पर निर्भर होता है कि कौन कितने दिन में कर्मों का क्षपण करता है।

जिन महापुरुषों ने समस्त कर्मों का नाश कर दिया उनकी हम लोग आराधना करते हैं। जैनधर्म किसी व्यक्तिविशेष को नहीं पूजता वह तो गुणों का पुजारी होता है। इसीलिए जैनधर्म प्राणिमात्र के ग्रहण करने योग्य धर्म है उसकी परिभाषा बताते हुए आचार्यों ने कहा है–

'कर्मारातीन् जयतीति जिनः' अर्थात् जो कर्मशत्रुओं को जीत लेते हैं, वे जिन कहलाते हैं तथा **'जिनो देवता यस्य स जैनः'** जो जिन के उपासक हैं अथवा जिनेन्द्र भगवान ही हैं देवता जिनके, वे जैन कहलाते हैं। मानव से लेकर पशु-पक्षी तक इस धर्म को धारण कर सकते हैं। सिंह जैसे हिंसक प्राणी ने भी दिगम्बर मुनि का संबोधन प्राप्त करके जीवन का उत्थान कर लिया, मांसाहार त्याग करके उसने सल्लेखना ग्रहण कर ली, जिसके प्रभाव से कालान्तर में दशवें भव में वह भगवान महावीर बन गया।

पहले लोग कर्मों का नाश करके मोक्ष जाने वाले महापुरुषों की स्मृति में प्रतिदिन निर्वाणकाण्ड पढ़ते थे किन्तु आज का निर्वाणकांड दैनिक समाचार-पत्र बन गया है जो कि प्रातःकाल से ही प्रारंभ हो जाता है। अखबारों के मुख पृष्ठ पर ही पढ़ने को मिलता है कि कश्मीर में अनेकों हत्याएं एवं कई घायल। कैसे दिन भर का वातावरण मंगलमयी रह सकता है? आप सुबह उठते ही कम से कम 5 मिनट तक सिद्धशिला पर विराजमान सिद्ध परमात्मा का ध्यान करें, पुनः सुप्रभात स्तोत्र का पाठ करें, आपका दिवस मंगलमयी होगा एवं सब कार्यों की सिद्धि होगी।

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के ही जीवन को देखिए, वनवास में भी उन्हें जहाँ-जहाँ मंदिरों एवं साधुओं का निवास मिलता था, वहाँ रुककर दर्शन-पूजन अवश्य करते थे जैसा कि जैन रामायण (पद्मपुराण) में वर्णन आया है कि 'एक मंदिर में वरधर्मा नाम की गणिनी आर्यिका अपने संघ सहित विराजमान थीं, रामचन्द्र जी ने सीता के साथ उनकी अष्टद्रव्य से पूजा की।'

एक बार राम, लक्ष्मण, सीता, वंशस्थल वन में पहुँचते हैं, वहाँ सायंकाल गाँव वालों का दृश्य देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं। गाँव के सभी स्त्री-पुरुष अपने-अपने बच्चों को तथा घर का सामान लेकर कहीं भागे जा रहे थे। लक्ष्मण ने आगे बढ़कर उन लोगोंसे पूछा कि आप लोग कहाँ भागे जा रहे हैं? उन लोगों ने बतलाया कि यहाँ रात्रि में कोई दैत्य आकर पर्वत पर इतना भयंकर शब्द करता है कि कई लोगों की मृत्यु हो जाती है, कितने ही लोग कानों से बहरे हो जाते हैं, गर्भवती स्त्रियों के असमय में गर्भपात हो जाते हैं। हम लोग इस राक्षस के प्रलयंकारी शब्द को सहन करने में असमर्थ हैं इसीलिए शाम को सभी लोग दूसरे गाँव में भाग जाते हैं और प्रातः यहीं वापस आ जाते हैं।

गाँव वालों से यह भयावह वार्ता सुनकर सीता राम से कहने लगीं कि चलो! हम लोग भी इन्हीं लोगों के साथ उसी गाँव में चलें और सुबह इन्हीं के साथ वापस आ जाएंगे। राम ने हँसकर कहा–तुम्हें डर लगता है अतः तुम इन लोगों के साथ चली जाओ, सुबह आकर हम लोगों से मिल लेना। हम लोग तो उस दैत्य का पता लगाएंगे और गाँववासियों को उसके चंगुल से मुक्त कराएंगे। सीता भला इस तरह अकेली कब जाने वाली थी? उसने कहा–'आप लोगों की तो हमेशा ही केकड़े की पकड़ के समान जिद रहती है।'

अन्ततोगत्वा तीनों ही वंशस्थल पर्वत पर चढ़ते हैं। वहाँ दो मुनिराज ध्यान में लीन

खड़े हुए थे, वहाँ पहुँचकर वे लोग मुनिवर की भक्ति करने में अपनी सुधबुध भूल जाते हैं। उस भक्ति का बड़ा रोमांचक वर्णन पद्मपुराण में है–

झरने के जल से सीता ने मुनि के चरण प्रक्षालन किए एवं मलयागिरि का चंदन घिसकर चरणों की पूजन की। राम-लक्ष्मण ने संगीत की धुन में भक्ति गीत गाए और सीता ने भावविभोर होकर नृत्य किया। यह भक्ति का कार्यक्रम चल ही रहा था कि पर्वत पर भयंकर शब्द हो गया। सीता कुछ भयभीत हुई अतः राम ने उसे दोनों मुनियों के बीच वाले स्थान में बिठा दिया और दोनों भाई दैत्य का सामना करने के लिए धनुष- बाण तानकर तैयार हो गए। दैत्य जितनी जोर की गर्जना करता था, उससे अधिक गर्जना बलभद्र और नारायण के बाणों से निकलती थी। रात भर दैत्य के साथ वे दोनों युद्ध करते रहे, अंत में रात्रि के पिछले प्रहर में दैत्य स्वयं डरकर भाग गया। इस प्रकार उपसर्ग शांत हुआ और दोनों मुनियों को केवलज्ञान प्रगट हो गया, देवों ने आकर गंधकुटी की रचना कर दी। वे देशभूषण-कुलभूषण नाम के दोनों मुनि केवली बनकर गंधकुटी में विराजमान हो गए और भव्य प्राणियों को दिव्य देशना प्रदान करने लगे।

देखो! दो महापुरुषों के निमित्त से ग्रामवासियों का उपद्रव भी शांत हो गया एवं मुनिराज का उपसर्ग निवारण होते ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उसी गंधकुटी में राम,लक्ष्मण और सीता ने भी दिव्यध्वनि का पान किया तथा उपसर्ग करने वाले दैत्य के बारें में एवं मुनियों के बारे में भी परिचय प्राप्त किया कि पूर्वभव के वैरवशात् यह दैत्य उपसर्ग कर रहा था।

यही है कर्मों की विचित्रता! जहाँ वह दैत्य मुनियों पर उपसर्ग करके अपना संसार दीर्घ कर रहा था, वहीं उपसर्ग दूर करने वाले महान पुण्य का संचय कर रहे थे तथा उपसर्ग को सहन करने वाले महामुनि उस शत्रु को भी अपना मित्र समझ रहे थे क्योंकि उसके निमित्त से उन्हें आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान हो रहा था। एक के कर्म कट रहे थे और एक के कर्म बंध रहे थे, यही अन्तर था मुनिराज और दैत्य की आत्मा में।

जैनधर्म तो कर्म सिद्धान्त पर ही टिका हुआ है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में एक गाथा आई है–

पयडी सील सहावो, जीवंगाणं अणाइसंबंधो।
कणयोवले मलं वा, ताणत्थित्तं सयं सिद्धं।।

इसका अर्थ यह है कि जीव और पुद्गल का अनादिकाल से संबंध चला आ रहा है। जैसे स्वर्ण पाषाण में मल स्वाभाविक रूप से लगा रहता है उसी प्रकार जीव के साथ कर्ममल अनादिकाल से लगे हुए हैं। उन्हें आत्मा से अलग करने के लिए स्वर्णपाषाण के समान आत्मा को तपस्या की अग्नि में तपाना पड़ेगा।

आप सभी इस कर्मसिद्धान्त के मर्म को समझकर कर्मों से छूटने हेतु दान, पूजन, स्वाध्याय आदि सत्कर्म करें तथा शक्ति के अनुसार जीवन में संयम धारण कर मोक्षमार्ग को सुगम बनावें, यही मेरा मंगल आशीर्वाद है।

प्रवचन–21

तीर्थंकर जन्मभूमि विकास की आवश्यकता

संसार समुद्र से संसारी प्राणियों को पार करने वाले पवित्र स्थल तीर्थ कहे जाते हैं। वे तीर्थ दो प्रकार के होते हैं–द्रव्य तीर्थ और भावतीर्थ। रत्नत्रयस्वरूप भाव–परिणाम भावतीर्थ तथा महापुरुषों की चरणरज से पावन भूमियाँ द्रव्यतीर्थ हैं। उनमें 24 तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञानकल्याणक स्थल तीर्थक्षेत्र, मोक्षकल्याणक स्थल सिद्धक्षेत्र तथा चमत्कारिक तीर्थ अतिशय क्षेत्र की संज्ञा से जैन समाज में प्रसिद्ध हैं।

दिगम्बर जैन आगम के अनुसार अनादिकाल से जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में होने वाले सभी चौबीसों तीर्थंकर सदैव अयोध्या नगरी में जन्म लेते हैं एवं सम्मेदशिखर पर्वत से मोक्ष प्राप्त करते हैं इसीलिए ये दोनों तीर्थ ''शाश्वत तीर्थ'' कहलाते हैं। वर्तमान के हुण्डावसर्पिणी युग में इन दोनों तीर्थों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी भगवन्तों के जन्म एवं मोक्ष हो जाने से सोलह जन्मभूमियाँ एवं पाँच निर्वाणभूमियाँ हो गई हैं। जो इस प्रकार हैं–1. अयोध्या 2. श्रावस्ती 3. कौशाम्बी 4. वाराणसी 5. चन्द्रपुरी 6. काकन्दी 7. भद्रपुरी 8. सिंहपुरी 9. चम्पापुर 10. कम्पिल जी 11. रत्नपुरी 12. हस्तिनापुर 13. मिथिलापुरी 14. राजगृही 15. शौरीपुर 16. कुण्डलपुर।

निर्वाणभूमियाँ–1. अष्टापद 2. चम्पापुर 3. गिरनार 4. पावापुर 5. सम्मेदशिखर।

वर्तमान में निर्वाणक्षेत्र की पूजा करने की परम्परा तो जैन समाज में है किन्तु जन्मभूमि तीर्थों की न तो पूजा करने की परम्परा है और न ही चौबीस तीर्थंकरों के नाम एवं चिन्ह के समान उनके जन्मस्थल के नाम किन्हीं बालबोध आदि पुस्तकों में छपने की परम्परा ही देखने में आती है। यही कारण है कि जनसामान्य तो क्या, तीर्थक्षेत्र कमेटी आदि के कतिपय कार्यकर्ताओं को भी इन सोलहों जन्मभूमियों के नाम तब ज्ञात नहीं हैं।

उदाहरण के तौर पर कुण्डलपुर प्रवास के मध्य मैंने हजारों जैन नर-नारियों से **'राजगृही कौन से भगवान की जन्मभूमि है'**, यह पूछा तो कोई भी सही उत्तर नहीं दे पाये। कुण्डलपुर के निकट स्थित उस राजगृही तीर्थ पर मैं फरवरी 2003 में स्वयं गई किन्तु वहाँ क्षेत्र कमेटी की ओर से मात्र भगवान महावीर की प्रथम देशना स्थल के नाम से ही प्रचार-प्रसार देखा, तब मैंने वहाँ मुनिसुव्रत भगवान की विशाल प्रतिमा विराजमान करवाकर उनका मंदिर बनाने की प्रेरणा दी एवं उनकी जन्मभूमि के बोर्ड, शिलालेख आदि लगवाए।

भव्यात्माओं! यह तो केवल एक जन्मभूमि तीर्थ की बात आपको बताई गई है, इसी प्रकार अनेकों जन्मभूमियाँ आज अपने विकास एवं प्रसिद्धि हेतु आप जैसे श्रद्धालु भक्तों

की प्रतीक्षा कर रही हैं। उनमें से हस्तिनापुर, अयोध्या, वाराणसी, सिंहपुरी, श्रावस्ती, कुण्डलपुर, काकंदी आदि कतिपय जन्मभूमि तीर्थों का जीर्णोद्धार एवं विकास तो आप सबकी सक्रियता एवं योगदान से हुआ है किन्तु अभी जहाँ भगवान शीतलनाथ की जन्मभूमि भद्दिलपुर एवं भगवान मल्लिनाथ-नमिनाथ की जन्मभूमि मिथिलापुरी विवाद के घेरे में हैं, वहीं भगवान पद्मप्रभ की जन्मनगरी कौशाम्बी (निकट इलाहाबाद), भगवान चन्द्रप्रभ की जन्मभूमि चन्द्रपुरी (बनारस के निकट) अत्यन्त वीरान स्थिति में हैं। इनमें कहीं-कहीं तो सुबह अभिषेक-पूजा और शाम को दीपप्रज्ज्वलन तक भी प्रायः कठिनता से ही होता है। इसीलिए आप सभी सक्रिय धर्मनिष्ठ श्रावक भक्तों से यही कहना है कि सर्वप्रथम इन तीर्थंकर जन्मभूमि तीर्थों एवं उनके कल्याणक क्षेत्रों के विकास में अपनी सर्वशक्ति लगाएँ।

नये-नये स्थानों पर आज अनेक नये-नये तीर्थों का निर्माण करोड़ों रुपयों की लागत से हो रहा है। उनके प्रति हमारा कोई विरोध नहीं है किन्तु जो जन्मभूमि तीर्थ हमारी संस्कृति के उद्गमस्थल हैं, जिनकी उपेक्षा से जैनधर्म की प्राचीनता पर भी प्रश्नचिन्ह लग रहा है उनके विकास में उदासीनता क्यों? भव्यात्माओं! आप स्वयं सोचिये कि जिन भगवान पद्मप्रभ, चन्द्रप्रभ, महावीर स्वामी के नाम वाले अतिशय क्षेत्र पदमपुरा, तिजारा जी, चाँदनपुर महावीर जी में भक्तजन अपनी मनोकामना सिद्धी हेतु हजारों दीप जलाकर पूजा-अर्चना करते हैं उनकी जन्मभूमियाँ आज किस स्थितिमें हैं? इन भगवन्तों के जन्म लिए बिना क्या अतिशय क्षेत्र उत्पन्न हो सकते थे? खैर! बीतेहुए कल की बात छोड़ दीजिए और अब मेरी आप लोगों के लिए यही प्रेरणा है कि दिगम्बर जैन समाज की एक-एक सक्रिय संस्थाएँ एक-एक जन्मभूमि तीर्थ के विकास की भावना लेकर संस्कृति का संरक्षण करें क्योंकि जिन पवित्र स्थलों पर तीर्थंकर महापुरुषों ने जन्म लिया,जहाँ कुबेर द्वारा 15 महीनों तक रत्नवृष्टि हुई, जहाँ इन्द्र ने आकर प्रभु का दिव्य जन्मोत्सव मनाया, जहाँ से भगवन्तों ने अपने सर्वोदयी सिद्धान्तों का प्रचार किया और जहाँ जन्म लेकर प्रभु ने अजन्मा बनने का संकल्प लिया और मुक्तिपथ की ओर अग्रसर हुए, वे पावनभूमियाँ वास्तव में भारतीय संस्कृति की उद्गमस्थली हैं अतः जीर्णोद्धार, विकास एवं नवनिर्माण की शृँखला में सर्वप्रथम जन्मभूमियों की प्राथमिकता होनी चाहिए।

इस संबंध में जैन समाज द्वारा हुई उपेक्षा के कारण ही कुछ इतिहासकारों (प्रो. आर.एस. शर्मा आदि) ने **''प्राचीन भारत''** आदि पुस्तकों में लिख दिया कि **''भगवान महावीर जैनधर्म के संस्थापक हैं''** तथा जैनियों ने शेष 23 तीर्थंकरों के नाम मिथक कथाओं के आधार पर गढ़ लिये हैं। यही कारण है कि मैं अनेक वर्षों से सभी को यह प्रेरणा दे रही हूँ कि अपने समस्त तीर्थंकरों की जन्मभूमियों का विकास सर्वप्रथम होना चाहिए तथा इसी उद्देश्य के लिए मैंने दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान-हस्तिनापुर

के अन्तर्गत **'अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थंकर जन्मभूमि विकास कमेटी'** का गठन कराया है।

कुण्डलपुर में सन् 2004 में सम्पन्न हुए एवं भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव वर्ष के अन्तर्गत पंचवर्षीय 'जम्बूद्वीप महामहोत्सव-2005' के अवसर पर **''तीर्थंकर जन्मभूमि विकास महाधिवेशन''** के आयोजन सामाजिक कार्यकर्ताओं को सक्रिय करने के अनूठे अभियान हैं, ऐसे अधिवेशन आप सभी को विशेष उत्सव पर अवश्य आयोजित करना चाहिए।

मेरा यह भी कहना रहता है कि यदि एक-एक जन्मभूमियों को विकसित करने का संकल्प दिल्ली की एक-एक समृद्ध कॉलोनी, जयपुर, इंदौर, बम्बई, कलकत्ता जैसे बड़े-बड़े शहर ले लें, तो वह दिन दूर नहीं जब वे उपेक्षित जन्मभूमियाँ शीघ्र ही विकास की चरमसीमा पर होंगी।

तीर्थंकर जन्मभूमि तीर्थों को विकसित करने हेतु वहाँ के पदाधिकारियों के लिए मेरी कतिपय प्रेरणाएँ हैं–

1. प्रत्येक तीर्थंकर की जन्मभूमि पर उन-उन भगवन्तों की बड़ी मूर्ति विराजमान करें।
2. प्रत्येक तीर्थंकर की जन्मभूमि पर उन-उन भगवन्तों के नाम वाले कीर्तिस्तंभ का निर्माण किया जाए तथा उसमें उन तीर्थंकर का पूरा जीवन चरित्र उत्कीर्ण करें।
3. उनकी जन्मतिथि पर प्रतिवर्ष उन भगवान का मस्तकाभिषेक कार्यक्रम वार्षिक मेले के रूप में आयोजित करें।
4. उनके निर्वाण दिवस पर लाडू चढ़ाएँ।
5. उन-उन भगवन्तों के इतिहास से संबंधित चित्रप्रदर्शनी, झांकियाँ आदि निर्मित हों।
6. जैनधर्म की प्राचीनता से जन-जन को परिचित कराने हेतु प्रत्येक तीर्थ पर प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का भी जन्मोत्सव एवं निर्वाणलाडू का कार्यक्रम आयोजित करें।
7. उन तीर्थों से प्रकाशित होने वाली तीर्थ एवं तीर्थंकर परिचय की पुस्तिका में दिगम्बर जैन ग्रंथ उत्तरपुराण के आधार से ही परिचय लिखकर प्रकाशित करें।

इस संदर्भ में जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर से प्रकाशित पुस्तक ''तीर्थंकर जीवनदर्शन'' मंगाकर तीर्थंकरों के परिचय का सहयोग प्राप्त करें।

इस प्रकार आप सभी भक्तजन तीर्थंकर जन्मभूमियों के विकास में अपना सहयोग प्रदान करके यश एवं पुण्य के भागी बनें, यही मेरी प्रेरणा एवं सभी के लिए मंगल आशीर्वाद है।

G G G G G

प्रवचन–22

हस्तिनापुर से प्रारंभ हुआ है अक्षय तृतीया पर्व

भव्यात्माओं! भगवान ऋषभदेव का दीक्षा लेने के बाद जब छह माह का योग पूर्ण हो गया, तब वे यतियों–मुनियों की आहार विधि बतलाने के उद्देश्य से शरीर की स्थिति के लिये निर्दोष आहार हेतु निकल पड़े। महामेरू भगवान ऋषभदेव ईर्यापथ से गमन कर रहे हैं, अनेकों ग्राम-नगर-शहर आदि में पहुँच रहे हैं। उन्हें देखकर मुनियों की चर्या को न जानने वाली प्रजा बड़े उमंग के साथ सन्मुख आकर उन्हें प्रणाम करती है। उनमें से कितने ही लोग कहने लगते हैं कि हे देव! प्रसन्न होइये और कहिये क्या काम है ? हम सब आपके किंकर हैं, कितने ही भगवान के पीछे-पीछे हो लेते हैं। अन्य कितने ही लोग बहुमूल्य रत्न लाकर भगवान के सामने रख देते हैं और कहते हैं कि हे नाथ! प्रसन्न होइये, तुच्छ भेंट स्वीकार कीजिये, कितने ही सुन्दरी और तरुणी कन्याओं को सामने करके कहते हैं कि प्रभो! आप इन्हें स्वीकार कीजिये, कितने ही लोग वस्त्र, भोजन, माला आदि अलंकार ले-लेकर उपस्थित हो जाते हैं, कितने ही लोग प्रार्थना करते हैं कि प्रभो! आप आसन पर विराजिये, भोजन कीजिये इत्यादि इन सभी निमित्तों से प्रभु की चर्या में क्षण भर के लिए विघ्न पड़ जाता है पुनः वे आगे बढ़ जाते हैं। इस प्रकार से जगत को आश्चर्य में डालने वाली गूढ़ चर्या से विहार करते हुए भगवान के छह माह व्यतीत हो जाते हैं।

एक दिन रात्रि के पिछले भाग में हस्तिनापुर के युवराज श्रेयांस कुमार सात स्वप्न देखते हैं। प्रसन्नचित्त होते हुए प्रातः राजा सोमप्रभ के पास पहुँचकर निवेदन करते हैं कि हे भाई! आज मैंने उत्तम-उत्तम सात स्वप्न देखे हैं सो आप सुनें–

प्रथम ही सुवर्णमय सुमेरू पर्वत देखा है, दूसरे स्वप्न में जिनकी शाखाओं पर आभूषण लटक रहे हैं, ऐसा कल्पवृक्ष देखा है, तृतीय स्वप्न में ग्रीवा को उन्नत करता हुआ सिंह देखा है, चतुर्थ स्वप्न में अपने सींग से किनारे को उखाड़ता हुआ बैल देखा है, पंचम स्वप्न में सूर्य और चंद्रमा देखे हैं, छठे स्वप्न में लहरों से लहराता हुआ और रत्नों से शोभायमान समुद्र देखा है और सातवें स्वप्न में अष्ट मंगल द्रव्य को हाथ में लेकर खड़ी हुई ऐसी व्यंतर देवों की मूर्तियाँ देखी हैं। सो इनका फल जानने की मुझे अतिशय उत्कंठा हो रही है।

भाई के स्वप्नों को सुनते हुए राजा सोमप्रभ कुछ अकल्पित ही श्रेष्ठ फलों की कल्पना करते हुए पुरोहित की तरफ देखते हैं कि पुरोहित निवेदन करता है–

'हे राजकुमार! स्वप्न में सुमेरू पर्वत के देखने से यह स्पष्ट ही प्रकट हो रहा है कि जिसका मेरू पर्वत पर अभिषेक हुआ है ऐसा कोई देव आज अवश्य ही अपने घर

आयेगा और ये अन्य स्वप्न भी उन्हीं के गुणों की उन्नति को सूचित कर रहे हैं। आज उन भगवान के प्रति की गई विनय के द्वारा हम लोग अतिशय पुण्य को प्राप्त करेंगे। आज हम लोग जगत में बड़ी भारी प्रशंसा, प्रसिद्धि और संपदा के लाभ को प्राप्त करेंगे, इस विषय में कुछ भी संदेह नहीं है और कुमार श्रेयांस तो स्वयं ही इन स्वप्नों के रहस्य को जानने वाले हैं।

इस तरह से पुरोहित के वचनों से प्रसन्न हुए दोनों भाई स्वप्न की और भगवान की कथा करते हुए बैठे ही थे कि इतने में योगिराज भगवान ऋषभदेव ने हस्तिनापुर नगर में प्रवेश किया।

उस समय भगवान के दर्शनों की इच्छा से चारों तरफ अतीव भीड़ इकट्ठी हो गई। कोई कहने लगे–देखो-देखो, आदिकर्ता भगवान ऋषभदेव हम लोगों का पालन करने के लिए यहाँ आए हैं, चलो जल्दी चलकर उनके दर्शन करें और भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करें। कोई कह रहे थे कि संसार का कोई एक पितामह है ऐसा हम लोग मात्र कानों से सुनते थे सो आज प्रत्यक्ष में उनके दर्शन हो रहे हैं। अहो! इन भगवान के दर्शन करने से नेत्र सफल हो जाते हैं, इनका नाम सुनने से कान सफल हो जाते हैं और इनका स्मरण करने से अज्ञानी जीवों के भी अन्तःकरण पवित्र हो जाते हैं। कोई कहने लगे ओहो! ये भगवान् तीन लोक के स्वामी होकर भी सब कुछ छोड़कर इस तरह अकेले ही क्यों विहार कर रहे हैं ?

कोई स्त्री बच्चे को दूध पिलाते हुए भी अपने से अलग कर धाय की गोद में छोड़कर भगवान के दर्शन के लिए दौड़ पड़ी, कोई स्त्री कहने लगी सखी! भोजन करना बन्द कर, जल्दी उठ और यह अर्घ्य हाथ में ले, अपन चलकर जगतगुरु भगवान की पूजा करेंगे। इत्यादि कोलाहल के बीच से निकलते हुए भगवान मनुष्यों से भरे हुए नगर को सूने वन के समान जानते हुए निराकुल छोड़कर चाँद्रीचर्या का आश्रय लेकर विहार कर रहे हैं। इसी बीच सिद्धार्थ नाम का द्वारपाल आकर गद्गद वाणी से बोलता है–

'महाराज! तीन जगत् के गुरू भगवान् ऋषभदेव स्वयं ही अकेले इधर आ रहे हैं।' इतना सुनते ही राजा सोमप्रभ और राजकुमार श्रेयांस दोनों ही भाई सेनापति और मंत्रियों के साथ तत्क्षण ही उठ पड़े और राजमहल के आंगन तक बाहर आ गए। दोनों भाइयों ने दूर से ही भगवान को नमस्कार किया। उनके चरणों में अर्घ्य सहित जल समर्पित किया। भगवान के मुख कमल को देखते ही कुमार श्रेयांस को अपने कई भवों का जातिस्मरण हो आया, उनको रोमांच हो गया। ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो मेरे घर में तीन लोक की सम्पदा ही आ गई है–उन्हें आहार देने की सारी विधि याद आ गई। शीघ्र ही पड़गाहन विधि को करते हुए भगवान की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं। अन्दर ले गये, उन्हें उच्च आसन पर बैठने के लिए निवेदन किया–

'भगवन्! उच्च आसन पर विराजमान होइये।' पुनः प्रभु के चरणों का प्रक्षालन करके मस्तक पर गंधोदक चढ़ाकर अपना जीवन धन्य माना और अष्टद्रव्य से पूजा की। पुनः पुनः प्रणाम करके मन, वचन, काय की शुद्धि का निवेदन किया, पुनः आहार जल की शुद्धि का निवेदन करके भक्ति से हाथ जोड़कर बोले–,

'नाथ! यह प्रासुक इक्षुरस है इसे ग्रहण कर मुझे कृतार्थ कीजिए।' भगवान ने उस समय खड़े होकर अपने दोनों हाथों की अंजुली बनाई और उसमें आहार लेना शुरू किया।

राजकुमार श्रेयांस भगवान के हाथ की अंजुली में इक्षुरस दे रहे हैं। राजा सोमप्रभ और रानी लक्ष्मीमती भी प्रभु के करपात्र में इक्षुरस देते हुए अपने आप को धन्य समझ रहे हैं। इसी बीच गगनांगण में देवों का समूह एकत्रित हो गया और रत्नों की वर्षा करने लगा, मंदार पुष्पों को बरसाने लगा, मंदसुगंध पवन चलने लगी, दुंदभि बाजे-बजने लगे और 'अहोदान, महादान' आदि ध्वनि से आकाशमंडल शब्दायमान हो गया।

इस समय दोनों भाइयों ने अपने आपको बहुत ही कृतकृत्य माना क्योंकि कृतकृत्य हुए भगवान ऋषभदेव स्वयं ही उनके घर को पवित्र करने वाले हैं। उस समय दान की अनुमोदना करने वाले बहुत से लोगों ने भी परम पुण्य को प्राप्त किया था। भगवान ऋषभदेव आहार ग्रहण कर वन की ओर प्रस्थान कर गये। राजा सोमप्रभ और श्रेयांस भी कुछ दूर तक भगवान के पीछे-पीछे गये पुनः भगवान को हृदय में धारण किये हुए ही वापस लौटते समय उन्हीं के गुणों की चर्चा करते हुए और प्रभु के पद से चिन्हित पृथ्वी को भी नमस्कार करते हुए आ गये। उस समय पूरे हस्तिनापुर में एक ही चर्चा थी कि राजकुमार श्रेयांस को प्रभु को आहार देने की विधि कैसे मालूम हुई? यह आश्चर्यमयी दृश्य देवों के हृदय को भी आश्चर्यचकित कर रहा था। देवों ने भी मिलकर राजा श्रेयांस की बड़े आदर से पूजा की। भरत महाराज भी वहाँ आ गये और आदर सहित राजकुमार श्रेयांस से बोले–

'हे महादानपते! कहो तो सही, तुमने भगवान के अभिप्राय को कैसे जाना ? हे कुरुराज! आज तुम हमारे लिए भगवान के समान ही पूज्य हुए हो, तुम दानतीर्थ की प्रवृत्ति करने वाले हो और महापुण्यवान हो, इसलिये मैं तुमसे यह सब पूछ रहा हूँ कि जो सत्य हो, वह अब मुझसे कहो।'

इस प्रकार सम्राट के पूछने पर श्रेयांस कुमार बोलते हैं–

राजन्! जिस प्रकार प्यासा मनुष्य सुगंधित स्वच्छ शीतल जल के सरोवर को देखकर प्रसन्न हो उठता है वैसे ही भगवान के अतिशय रूप को देखकर मेरी प्रसन्नता का पार नहीं रहा कि मुझे उसी निमित्त से जातिस्मरण हो आया जिससे मैंने भगवान का अभिप्राय जान लिया।'

'वह क्या? मुझे भी सुनाओ।'

'महाराज! आज से आठवें भव पूर्व विदेह क्षेत्र की पुंडरीकिणी नगरी के राजा वज्रजंघ और रानी श्रीमती ने बड़े ही प्रेम से वन में चारण ऋद्धिधारी युगल मुनियों को आहार दान दिया था। उस समय राजा के मंत्री, सेनापति, पुरोहित और सेठ भी आहार दान की अनुमोदना कर रहे थे और पास में कुछ ही दूर से देखते हुए नेवला, वानर, व्याघ्र और सूकर ये चार पशु भी आहार देखकर प्रसन्नमन होते हुए उसकी अनुमोदना कर रहे थे। आहार होने के अनंतर कंचुकी ने कहा–

राजन् ! ये दोनों मुनि आपके ही युगलिया पुत्र हैं। यह सुनकर महाराज वज्रजंघ को अतीव हर्ष हुआ। वे उनके चरणों के निकट बैठकर अपनी रानी श्रीमती के, अपने, मंत्री आदि चारों के तथा नेवला आदि चारों के भी पूर्व भव पूछने लगे। मुनिराज ने भी अपने दिव्य अवधिज्ञान के द्वारा क्रम-क्रम से सभी के पूर्व भव सुना दिये; अनंतर बतलाया कि–

आप इस भव से आठवें भव में जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की अयोध्या नगरी में राजा नाभिराय की महारानी मरूदेवी की कुक्षि से प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के रूप में अवतार लेंगे। आपकी रानी श्रीमती का जीव हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ का भाई श्रेयांस कुमार होगा।

आपके ये मंत्री आदि आठों जीव भी अब से लेकर आठ भव तक आपके साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए आपके तीर्थंकर के भव में आपके ही पुत्र होवेंगे और उसी भव से मोक्ष की प्राप्ति करेंगे।

हे चक्रवर्तिन्! आप उस समय राजा वज्रजंघ के मतिवर नाम के महामंत्री थे, सो इस भव में भगवान के ही पुत्र होकर चक्रवर्ती हुए हो। उस समय के राजा वज्रजंघ के जो आनंद नाम के पुरोहित थे; उन्हीं का ही जीव आज आपके भाई बाहुबली हुए हैं जो कि कामदेव हैं। अकंपन सेनापति का जीव ही आपका भाई ऋषभसेन हुआ है जो कि आज पुरिमतालपुर नगर का अधीश्वर है, धनमित्र सेठ का जीव आपका अनंतविजय नाम का भाई है। दान की अनुमोदना से ही उन्नति करने वाले व्याघ्र का जीव आपका अनंतवीर्य नाम का भाई है, शूकर का जीव अच्युत नाम का भाई है, वानर का जीव वीर नाम का भाई है और नेवला का जीव वरवीर नाम का भाई है अर्थात् राजा वज्रजंघ के आहार दान के समय जो मतिवर मंत्री आदि चार लोग दान की अनुमोदना कर रहे थे और जो व्याघ्र आदि चारों जीव अनुमोदना कर रहे थे वे दान की अनुमोदना के पुण्य से ही क्रम-क्रम से मनुष्य के और देवों के सुखों का अनुभव करके अब इस भव में तीर्थंकर के पुत्र होकर महापुरुष के रूप में अवतीर्ण हुए हैं और सब इसी भव से प्रभु के तीर्थ से ही मोक्षधाम को प्राप्त करेंगे। मैं भी भगवान का गणधर होकर अंत में मोक्षधाम को प्राप्त करूँगा।

सम्राट भरत! यह दान की महिमा अचिन्त्य है, अद्भुत है और अवर्णनीय है। देव भी इसकी महिमा को नहीं कह सकते हैं पुनः साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या है?

राजन्! जो दाता, दान, देय और पात्र इनके लक्षणों को समझकर सत्पात्र में दान देता है वह निश्चित ही मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। देखो! इस आहारदान के बिना मोक्षमार्ग चल नहीं सकता है; अतः आहार, औषधि, शास्त्र और अभय इन चारों दानों में भी आहारदान ही सर्वश्रेष्ठ है और वही शेष दानों की भी पूर्ति कर सकता है।'

इस प्रकार से विस्तृत भवावली और अपना तथा भगवान ऋषभदेव का व राजकुमार श्रेयांस के कई भवों तक पारस्परिक सम्बन्ध सुनकर भरत चक्रवर्ती अत्यधिक प्रसन्न हुए और बोले–

'कुरुवंशशिरोमणे! भगवान ऋषभदेव जैसा ना तो कोई उत्तम सत्पात्र होगा और न आप जैसा महान दातार होगा, न आप जैसी नवधाभक्ति की विधि ही होगी, न आपके जैसा उत्तम फल को प्राप्त करने का अधिकारी ही हर कोई बन सकेगा। आप इस युग में 'दानतीर्थ के प्रथम प्रवर्तक' कहलाओगे। युग-युग तक आपकी अमर कीर्ति यह भारत वसुन्धरा गाती ही रहेगी।' 'इत्यादि प्रकार से राजकुमार श्रेयांस का सत्कार करके राजा भरत अयोध्या नगरी की तरफ प्रस्थान कर गये।

जिस दिन भगवान का आहार हुआ था उस दिन वैशाख सुदी तृतीया थी अतः उस दान के प्रभाव से ही वह 'अक्षय तृतीया' इस नाम से आज तक इस भारत भूमि में प्रचलित है क्योंकि जहाँ पर भगवान का आहार होता है वहाँ पर उस दिन भोजनशाला में सभी वस्तु 'अक्षय' हो जाती है अतः इसका यह नाम सार्थक हो गया है तथा वह दिन इतना पवित्र हो गया कि आज तक भी बिना मुहूर्त देखे-शोधे भी बड़े से बड़े मांगलिक कार्य इस अक्षय तृतीया के दिन प्रारम्भ कर दिये जाते हैं। सभी सम्प्रदाय के लोग भी इस दिन को सर्वोत्तम मुहूर्त मानते हैं, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है। यह है आहार दान का माहात्म्य! जो कि सभी की श्रद्धा करने योग्य है।

G G G G G

प्रवचन–23

तीर्थंकर, चक्रवर्ती और कामदेव
श्री शांति-कुंथु-अरनाथ भगवान

महानुभावों! आज मैं आपको तीन तीर्थंकरों– सोलहवें तीर्थंकर भगवान शांतिनाथ, सत्रहवें तीर्थंकर भगवान कुंथुनाथ एवं अट्ठारहवें तीर्थंकर भगवान अरनाथ के जीवन से परिचित कराती हूँ जिनके गर्भ-जन्म-तप और ज्ञान ये चार-चार कल्याणक हस्तिनापुर की पावन धरती पर हुए तथा सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये तीनों ही महापुरुष तीर्थंकर होने के साथ ही साथ चक्रवर्ती और कामदेवपद के भी धारी हुए हैं।

सर्वप्रथम आप सुनें भगवान शांतिनाथ का जीवन परिचय–

कुरुजांगल देश की हस्तिनापुर राजधानी में कुरुवंशी राजा विश्वसेन राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम ऐरावती था। भगवान शांतिनाथ के गर्भ में आने के छह महीने पहले से ही इन्द्र की आज्ञा से हस्तिनापुर नगर में माता के आंगन में रत्नों की वर्षा होने लगी और श्री, ह्री, धृति आदि देवियाँ माता की सेवा में तत्पर हो गईं। भादों वदी सप्तमी के दिन भरणी नक्षत्र में रानी ने गर्भ धारण किया। उस समय स्वर्ग से देवों ने आकर तीर्थंकर महापुरुष का गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया और माता-पिता की पूजा की।

नव मास व्यतीत होने के बाद रानी ऐरादेवी ने ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन प्रातःकाल के समय तीन लोक के नाथ ऐसे पुत्ररत्न को जन्म दिया। उसी समय चार प्रकारके देवों के यहाँ स्वयं ही बिना बजाये शंखनाद, भेरीनाद, सिंहनाद और घण्टानाद होने लगे। सौधर्मेन्द्र ऐरावत हाथी पर चढ़कर इन्द्राणी और असंख्य देवगणों सहित नगर में आया तथा भगवान को सुमेरुपर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक महोत्सव मनाया। अभिषेक के अनन्तर भगवान को अनेकों वस्त्रालंकारों से विभूषित करके उनका ''शांतिनाथ'' यह नाम रखा इस प्रकार भगवान को हस्तिनापुर वापस लाकर माता-पिता को सौंपकर पुनरपि यहाँ जन्मकल्याणक महोत्सव मनाकर आनंद नामक नाटक करके अपने-अपने स्थान पर चले गये।

भगवान की आयु एक लाख वर्ष की थी, शरीर चालीस धनुष ऊँचा था, सुवर्ण के समान कांति थी, ध्वजा, तोरण, शंख, चक्र आदि एक हजार आठ शुभ चिन्ह उनके शरीर में थे। उन्हीं विश्वसेन की यशस्वती रानी के चक्रायुध नाम का एक पुत्र हुआ। देवकुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए भगवान शांतिनाथ अपने छोटे भाई चक्रायुध के साथ-साथवृद्धि को प्राप्त हो रहे थे। भगवान की यौवन अवस्था आने पर उनके पिता ने कुल, रूप, अवस्था, शील, कांति आदि से विभूषित अनेक कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया।

इस तरह भगवान के जब कुमार काल के पच्चीस हजार वर्ष व्यतीत हो गये, तब महाराज विश्वसेन ने उन्हें अपना राज्य समर्पण कर दिया। क्रम से उत्तमोत्तम भोगों का

अनुभव करते हुए जब भगवान के पच्चीस हजार वर्ष और व्यतीत हो गये, तब उनकी आयुधशाला में चक्रवर्ती के वैभव को प्रगट करने वाला चक्ररत्न उत्पन्न हो गया। इस प्रकार चक्र को आदि लेकर चौदह रत्न और नवनिधियाँ प्रगट हो गईं। इन चौदह रत्नों में चक्र, छत्र, तलवार और दण्ड ये आयुधशाला में उत्पन्न हुए थे, काकिणी, चर्म और चूड़ामणि श्रीगृह में प्रकट हुए थे, पुरोहित, सेनापति, स्थपति और गृहपति हस्तिनापुर में मिले थे और स्त्री, गज तथा अश्व विजयार्ध पर्वत पर प्राप्त हुए थे। नौ निधियाँ भी पुण्य से प्रेरित हुए इन्द्रों के द्वारा नदी और सागर के समागम पर लाकर दी गई थीं।

चक्ररत्न के प्रकट होने के बाद भगवान ने विधिवत् दिग्विजय करके छह खण्ड को जीतकर इस भरतक्षेत्र में एकछत्र शासन किया था। जहाँ पर स्वयं भगवान शांतिनाथइस पृथ्वी पर प्रजा का पालन करने वाले थे, वहाँ के सुख और सौभाग्य का क्या वर्णन किया जा सकता है? इस प्रकार चक्रवर्ती के साम्राज्य में भगवान की छ्यानवे हजार रानियाँ थीं। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनकी सेवा करते थे और बत्तीस यक्ष हमेशा चामरों को ढुराया करते थे। चक्रवर्तियों के साढ़े तीन करोड़ बंधु कुल होता है। अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी लाख हाथी, तीन करोड़ उत्तम वीर, अनेकों करोड़ विद्याधर और अठासी हजार म्लेच्छ राजा होते हैं। छ्यानवे करोड़ ग्राम, पचहत्तर हजार नगर, सोलह हजार खेट, चौबीस हजार कर्वट, चार हजार मटंब और अड़तालीस हजार पत्तन होते हैं इत्यादि अनेकों वैभव होते हैं।

स्त्री, पुरोहित, सेनापति, स्थपति, गृहपति, गज और अश्व ये सात जीवित रत्न हैं एवं छत्र, असि, दण्ड, चक्र, काकिणी, चिंतामणि और चर्म ये सात रत्न निर्जीव होते हैं।

काल, महाकाल, पाण्डु, मानव, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल और नानारत्न ये नौ निधियाँ हैं। ये क्रम से ऋतु के योग्य द्रव्यों, भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, हर्म्य, आभरण और रत्नसमूहों को दिया करती हैं।

दिव्यपुर, रत्न, निधि, सैन्य, भोजन, भाजन, शय्या, आसन, वाहन और नाट्य ये चक्रवर्तियों के दशांग भोग होते हैं।

इस प्रकार संख्यात हजार पुत्र-पुत्रियों से वेष्टित भगवान शांतिनाथ चक्रवर्ती के साम्राज्य को प्राप्त कर दश प्रकार के भोगों का उपभोग करते हुए सुख से काल व्यतीत कर रहे थे। भगवान तीर्थंकर और चक्रवर्ती होने के साथ-साथ कामदेव पद के धारक भी थे।

जब भगवान के पच्चीस हजार वर्ष साम्राज्यपद में व्यतीत हो गये, तब एक समय अलंकारगृह के भीतर अलंकार धारण करते हुए उन्हें दर्पण में अपने दो प्रतिबिम्ब दिखाई दिये। उसी समय उन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया और पूर्व जन्म का स्मरण भी हो गया। तब भगवान संसार, शरीर और भोगों के स्वरूप का विचार करते हुए विरक्त हो गये। उसी समय लौकांतिक देवों ने आकर अनेकों स्तुतियों से स्तुति पूजा की अनन्तर सौधर्म आदि इन्द्र सभी देवगणों के साथ उपस्थित हो गये। भगवान ने नारायण नाम के पुत्र का राज्याभिषेक करके सभी कुटुम्बियों को यथायोग्य उपदेश दिया।

अनन्तर इन्द्र ने भगवान का दीक्षाभिषेक करके ''सर्वार्थसिद्धि'' नाम की पालकी में

विराजमान करके हस्तिनापुर नगर के सहस्राम्र वन में प्रवेश किया। उसी समय ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन भरणी नक्षत्र में बेला का नियम लेकर भगवान ने पंचमुष्टि लोच करके 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' कहते हुए स्वयं जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली और सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके ध्यान में स्थिर होते ही मनःपर्ययज्ञान प्राप्त कर लिया।

मंदिरपुर के राजा सुमित्र ने भगवान शांतिनाथ को खीर का आहार देकर पंचाश्चर्य वैभव को प्राप्त किया। इस प्रकार अनुक्रम से तपश्चरण करते हुए भगवान के सोलह वर्ष व्यतीत हो गये।

भगवान शांतिनाथ सहस्राम्रवन में नंद्यावर्त वृक्ष के नीचे पर्यंकासन से स्थित हो गये और पौष शुक्ल दशमी के दिन अन्तर्मुहूर्त में दशवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का नाशकर बारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का सर्वथा अभाव करके तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर केवलज्ञान से विभूषित हो गये और उन्हें एक समय में ही सम्पूर्ण लोकालोक स्पष्ट दिखने लगा। पहले भगवान ने चक्ररत्न से छह खण्ड पृथ्वी को जीतकर साम्राज्यपद प्राप्त किया था, अब भगवान ने ध्यानचक्र से विश्व में एकछत्रराज्य करने वाले मोहराज को जीतकर केवलज्ञानरूपी साम्राज्य लक्ष्मी को प्राप्त कर लिया। उसी समय इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने दिव्य समवसरण की रचना कर दी।

यह समवसरण पृथ्वीतल से पाँच हजार धनुष ऊँचा था, इस पृथ्वीतल से एक हाथ ऊँचाई से ही इसकी सीढ़ियाँ प्रारंभ हो गई थीं। ये सीढ़ियाँ एक-एक हाथ की थीं और बीस हजार प्रमाण थीं। यह समवसरण गोलाकार रहता है। इसमें सबसे पहले धूलिसाल के बाद चारों दिशाओं में चार मानस्तंभ हैं, मानस्तंभों के चारों ओर सरोवर हैं, पुनः प्रथमभूमि–चैत्यप्रासादभूमि है। इसके बाद निर्मल जल से भरी परिखा है, फिर पुष्पवाटिका (लतावन) हैं उसके आगे पहला कोट है, उसके आगे दोनों ओर से दो-दो नाट्यशालाएँ हैं, उसके आगे दूसरा अशोक, आम्र, चंपक और सप्तपर्ण का वन है, जिसका नाम उपवनभूमि है। उसके आगे वेदिका है, तदनन्तर ध्वजाओं की पंक्तियाँ हैं, फिर दूसरा कोट है, उसके आगे वेदिका सहित कल्पवृक्षों का वन है, उसके बाद स्तूप, स्तूपों के बाद मकानों की पंक्तियाँ हैं, फिर स्फटिक मणिमय तीसरा कोट है उसके भीतर मनुष्य, देव और मुनियों की बारह सभाएँ हैं। इस प्रकार इस समवसरण में आठ भूमियाँ हैं, चार परकोटे हैं और पाँच वेदियाँ हैं। तदनन्तर पीठिका है। इस पीठिका में तीन कटनी हैं उन पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ हैं। प्रथम कटनी पर धर्मचक्र हैं, द्वितीय कटनी पर आठ महाध्वजाएँ एवं तीसरी कटनी पर गंधकुटी है। इसके अग्रभाग पर कमलासन पर चार अंगुल अधर ही अर्हन्त देव विराजमान रहते हैं। भगवान पूर्व या उत्तर की ओर मुँह कर स्थित रहते हैं फिर भी अतिशय विशेष से चारों दिशाओं में ही भगवान का मुँह दिखता रहता है। समवसरण में चारों ओर प्रदक्षिणा के क्रम से पहले कोठे में गणधर और मुनिगण, दूसरे में कल्पवासिनी देवियाँ, तीसरे में आर्यिकाएँ और श्राविकाएँ, चौथे में ज्योतिषी देवांगनाएँ, पाँचवें में व्यन्तर देवांगनाएँ, छठे में भवनवासी देवांगनाएँ, सातवें में भवनवासी देव,

आठवें में व्यंतर देव, नवमें में ज्योतिषी देव, दसवें में कल्पवासी देव, ग्यारहवें में चक्रवर्ती आदि मनुष्य और बारहवें में पशु बैठते हैं।

भगवान के समवसरण में चक्रायुध को आदि लेकर छत्तीस गणधर थे। बासठ हजार मुनिगण, साठ हजार तीन सौ आर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक और चार लाख श्राविकाएँ असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यातों तिर्यंच थे। इस प्रकार बारह गणों के साथ-साथ भगवान ने बहुत काल तक धर्म का उपदेश दिया।

जब भगवान की आयु एक माह शेष रह गई, तब वे सम्मेदशिखर पर आये और विहार बंद कर अचल योग में विराजमान हो गये। ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन भगवान चतुर्थ शुक्लध्यान के द्वारा चारों अघातिया कर्मों का नाश कर एक समय में लोक के अग्रभाग पर जाकर विराजमान हो गये। वे नित्य, निरंजन, कृतकृत्य सिद्ध हो गये। सी समय इन्द्रादि चार प्रकार के देवों ने आकर निर्वाणकल्याणक की पूजा की और अंति संस्कार करके भस्म से अपने ललाट आदि उत्तमांगों को पवित्रकर स्व-स्व स्थान को चले गये।

ये शांतिनाथ भगवान तीर्थंकर होने से बारहवें भव पूर्व राजा श्रीषेण थे और मुनि को आहारदान देने के प्रभाव से भोगभूमि में गये थे, फिर देव हुए, फिर विद्याधर हुए, फिर देव हुए, फिर बलभद्र हुए, फिर देव हुए, फिर वज्रायुध चक्रवर्ती हुए, उस भव में इन्होंने दीक्षा ली थी और एक वर्ष का योग धारण कर खड़े हो गये थे, तब इनके शरीर पर लताएँ चढ़ गई थीं, सर्पों ने वामी बना ली थी, पक्षियों ने घोंसले बना लिये थे और ये वज्रायुध मुनिराज ध्यान में लीन रहे थे, अनन्तर अहमिन्द्र हुए, फिर मेघरथ राजा हुए, उस भव में इन्होंने दीक्षा लेकर घोर तपश्चरण करते हुए सोलहकारण भावनाओं का चिंतवन किया था और उसके प्रभाव से तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया था, फिर वहाँ से सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए, फिर वहाँ से आकर जगत को शांति प्रदान करने वाले सोलहवें तीर्थंकर, बारहवें कामदेव और पंचम चक्रवर्ती ऐसे शांतिनाथ भगवान हुए।

उत्तरपुराण में श्री गुणभद्र स्वामी कहते हैं कि इस संसार में अन्य लोगों की बात जाने दीजिए, श्री शांतिनाथ जिनेन्द्र को छोड़कर भगवान तीर्थंकरों में ऐसा कौन है जिसने पूर्व के बारह भवों में से प्रत्येक भव में बहुत भारी वृद्धि प्राप्त की हो? इसलिए हे विद्वान् लोगों! यदि तुम शांति चाहते हो तो सबसे उत्तम और सबका भला करने वाले श्री शांतिनाथ जिनेन्द्र का निरन्तर ध्यान करते रहो। यही कारण है कि आज भी भव्यजीव शांति की प्राप्ति के लिए श्री शांतिनाथ भगवान की आराधना करते हैं।

पुष्पदंत तीर्थंकर से लेकर सात तीर्थंकरों तक उनके तीर्थकाल में धर्म की व्युच्छित्ति हुई अतः धर्मनाथ तीर्थंकर के बाद पौन पल्य कम तीन सागर तक धर्म की परम्परा अव्युच्छिन्नरूप से चलती रही। अनन्तर पाव पल्यकाल तक इस भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में धर्म का विच्छेद हो गया अर्थात् हुण्डावसर्पिणी के दोष से उस पाव पल्य प्रमाणकाल तक दीक्षा लेने वालों का अभाव हो जाने से धर्मरूपी सूर्य अस्त हो गया था, उस समय शांतिनाथ ने जन्म लिया था। तब से आज तक धर्म परम्परा अविच्छिन्नरूप से चली आ

रही है। इसलिए उत्तरपुराण में श्री गुणभद्र स्वामी कहते हैं कि–

"भोगभूमि आदि कारणों से नष्ट हुआ मोक्षमार्ग यद्यपि ऋषभनाथ आदि तीर्थंकरों के द्वारा पुनः पुनः दिखलाया गया था तो भी उसे प्रसिद्ध अवधि के अन्त तक ले जाने में कोई भी समर्थ नहीं हो सका, तदनन्तर जो शांतिनाथ भगवान ने मोक्षमार्ग प्रगट किया, वही आज तक अखण्डरूप से बाधा रहित चला आ रहा है। इसलिए इस युग के आद्य गुरु श्री शांतिनाथ भगवान ही हैं क्योंकि उनके पहले जो पन्द्रह तीर्थंकरों ने मोक्षमार्ग चलाया था, वह बीच-बीच में विनष्ट होता जाता था।"

इस प्रकार से इस हस्तिनापुर नगरी में भगवान शांतिनाथ के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान ऐसे चार कल्याणक हुए हैं यह बात स्पष्ट है तथा शांतिनाथ ने आम्रवन में दीक्षा ली एवं आम्रवन में ही उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। ऐसा कथन तिलोयपण्णत्ति एवं उत्तरपुराण दोनों ही ग्रंथों में स्पष्ट है इसलिए यह हस्तिनापुर नगरी भगवान शांतिनाथ के चार कल्याणकों से पवित्र हो चुकी है।

जिनके शरीर की ऊँचाई एक सौ साठ हाथ थी, जो पंचम चक्रवर्ती थे और बारहवें कामदेव पद के धारी थे, जिनके हिरण का चिन्ह था, जो भादों वदी सप्तमी को माता के गर्भ में आये, ज्येष्ठ वदी चौदस को जन्म लिया और ज्येष्ठ वदी चौदस को ही दीक्षा ग्रहण किया, पौष शुक्ला दशमी के दिन केवलज्ञानी हुए पुनः ज्येष्ठ वदी चौदस को मुक्ति धाम को प्राप्त हुए, ऐसे शांतिनाथ भगवान सदैव हम सबको शांति प्रदान करें।

भगवान शांतिनाथ के जीवन से परिचित होने के बाद अब आप कुंथुनाथ के बारे में जानेंगे–

श्री कुंथुनाथ भगवान

कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में कुरुवंशी काश्यप गोत्रीय महाराज सूरसेन राज्य करते थे, उनकी पट्टरानी का नाम श्रीकांता था। उस पतिव्रता देवी ने देवों के द्वारा की हुई रत्नवृष्टि आदि पूजा प्राप्त की थी। श्रावण कृष्ण दशमी के दिन रानी ने सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र को गर्भ में धारण किया, उस समय इन्द्रों ने आकर भगवान का गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया और माता-पिता की पूजा करके स्वस्थान को चले गये। क्रम से नवमास व्यतीत हो जाने पर वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन पुत्ररत्न को जन्म दिया, उसी समय इन्द्रादि सभी देवगण आये और बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर महामहिम जन्माभिषेक महोत्सव करके, अलंकारों से अलंकृत किया एवं बालक का नाम "कुंथुनाथ" रखा। वापस लाकर माता-पिता को सौंपकर देवगण स्वस्थान को चले गये। पंचानवे हजार वर्ष की इनकी आयु थी, पैंतीस धनुष ऊँचा शरीर था और तपाये हुए स्वर्ण के समान शरीर की कांति थी। ये तेरहवें कामदेवपद के धारक थे।

तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष कुमार काल के बीत जाने पर उन्हें राज्य प्राप्त हुआ और इतना ही काल बीत जाने पर उन्हें वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन चक्रवर्ती की

लक्ष्मी मिली। इस प्रकार वे बाधा रहित, निरन्तर दश प्रकार के भोगों का उपभोग करते थे, सारा वैभव शांतिनाथ भगवान के समान ही था। चक्रवर्ती पद के साम्राज्य का उपभोग करते हुए भगवान के तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष व्यतीत हो गये।

किसी समय भगवान को पूर्वभव का स्मरण हो जाने से आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया और वे भोगों से विरक्त हो गये, उसी समय लौकांतिक देवों ने आकर प्रभु का स्तवन-पूजन किया। उन्होंने अपने पुत्र को राज्यभार देकर इन्द्रों द्वारा किया हुआ दीक्षाकल्याणक उत्सव प्राप्त किया। देवों द्वारा लाई गई 'विजया' नाम की पालकी पर सवार होकर भगवान सहेतुक वन में पहुँचे, वहाँ तेला का नियम लेकर वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन कृत्तिका नक्षत्र में सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। उसी समय प्रभु को मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया। दूसरे दिन हस्तिनापुर के धर्ममित्र राजा ने भगवान को आहारदान देकर पंचाश्चर्य को प्राप्त किया। इस प्रकार घोर तपश्चरण करते हुए प्रभु के सोलह वर्ष बीत गये।

किसी दिन भगवान तेला का नियम लेकर तप करने के लिए वन में तिलक वृक्ष के नीचे विराजमान हुए। वहाँ चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। उसी समय देवों ने समवसरण की रचना की और केवलज्ञान कल्याणक की पूजा की। भगवान के समवसरण में स्वयंभू को आदि लेकर पैंतीस गणधर, साठ हजार मुनिराज, साठ हजार तीन सौ पचास आर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक, तीन लाख श्राविकाएं, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यंच थे। भगवान दिव्यध्वनि के द्वारा चिरकाल तक धर्मोपदेश देते हुए विहार करते रहे। भगवान का केवलीकाल तेईस हजार सात सौ चौंतीस वर्ष का था।

जब भगवान की आयु एक मास की शेष रह गई, तब वे सम्मेदशिखर पर पहुँचे और प्रतिमायोग धारण कर लिया, वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन रात्रि के पूर्व भाग में समस्त कर्मों से रहित, नित्य, निरंजन, सिद्धपद को प्राप्त हो गये। ये कुंथुनाथ भगवान तीर्थंकर होने के तीसरे भव पहले सिंहरथ राजा थे, मुनि अवस्था में सोलहकारण भावनाओं के प्रभाव से तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया, पुनः सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए, वहाँसे आकर कुंथुनाथ नाम के सतरहवें तीर्थंकर, छठे चक्रवर्ती और तेरहवें कामदेव पद के धारक हुए हैं।

तिलोयपण्णत्ति और उत्तरपुराण के अनुसार इन भगवान के भी गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान ये चारों कल्याणक हस्तिनापुर में ही हुए हैं। भगवान का गर्भकल्याणक श्रावण कृष्णा दशमी को हुआ, दीक्षाकल्याणक चैत्र शुक्ला तृतीया को हुआ तथा जन्म,केवलज्ञान और मोक्षकल्याणक वैशाख शुक्ला प्रतिपदा को हुआ है। भगवान के शरीर की ऊँचाई 140 हाथ प्रमाण थी, बकरे का चिन्ह था, ऐसे सत्तरहवें तीर्थंकर कुंथुनाथ भगवान हम और आपको शाश्वत सुख प्रदान करें।

अब आप श्री अरनाथ भगवान के जीवन से परिचित होकर उनके आदर्शमयी जीवन से कुछ प्रेरणा प्राप्त करें–

श्री अरनाथ भगवान

इसी हस्तिनापुर नगरी में सोमवंश में उत्पन्न हुए राजा सुदर्शन राज्य करते थे। उनकी मित्रसेना नाम की रानी थी। रानी ने फाल्गुन कृष्णा तृतीया के दिन गर्भ में अहमिन्द्र के जीव को धारण किया, उसी समय देवों ने आकर गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया। रात्री मित्रसेना ने नवमास के बाद मगसिर शुक्ल चतुर्दशी के दिन पुष्य नक्षत्र में पुत्ररत्न को जन्म दिया। देवों ने बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक महोत्सव करके भगवान का अरनाथ नाम रखा। भगवान की आयु चौरासी हजार वर्ष की थी, 120 हाथ ऊँचा शरीर था, सुवर्ण के समान शरीर की कांति थी।

भगवान के कुमार अवस्था के इक्कीस हजार वर्ष बीत जाने पर उन्हें मण्डलेश्वर के योग्य राज्य पद प्राप्त हुआ, इसके बाद इतना ही काल बीत जाने पर चक्रवर्ती पद प्राप्त हुआ। इस तरह भोग भोगते हुए जब आयु का तीसरा भाग बाकी रह गया, तब शरद ऋतु के मेघों का अकस्मात् विलय होना देखकर भगवान को वैराग्य हो गया। लौकांतिक देवों द्वारा स्तुत्य भगवान अपने अरविंद कुमार को राज्य देकर देवों द्वारा उठाई हुई वैजयंती नाम की पालकी पर सवार होकर सहेतुक वन में पहुँचे। तेला का नियम कर मगसिर शुक्ला दशमी के दिन रेवती नक्षत्र में भगवान ने जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। पारणा के दिन चक्रपुर नगर के अपराजित राजा ने भगवान को आहारदान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किया था।

जब भगवान के छद्मस्थ अवस्था के सोलह वर्ष बीत गये, तब वे कार्तिक शुक्ला दशमी के दिन आम्रवन के नीचे तेला का नियम लेकर विराजमान हुए और घातिया कर्मों का नाश कर केवली बन गये। देवों ने आकर समवसरण की रचना करके केवलज्ञान कीपूजा की। भगवान के तीस गणधर, पचास हजार मुनिराज, साठ हजार आर्यिकाएँ, एक लाख साठ हजार श्रावक, तीन लाख श्राविकाएँ, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यातों तिर्यंचथे। इस तरह बारह सभाओं से घिरे हुए भगवान अरनाथ ने बीस हजार नौ सौ चौरासी वर्ष तक केवली अवस्था में व्यतीत किए।

जब एक माह की आयु शेष रही, तब भगवान सम्मेदशिखर पर जाकर प्रतिमायोग से स्थित हो गये। चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के पूर्वभाग में सम्पूर्ण कर्मों से रहित अशरीरी होकर सिद्ध पद को प्राप्त हो गये। ये अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ सातवें चक्रवर्ती और चौदहवें कामदेवपद के धारक थे। तीर्थंकर से पूर्व तीसरे भव में ये भगवान धनपति नाम के राजा थे, दीक्षा लेकर सोलहकारण भावनाओं के बल से तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया था, पुनः जयंत विमान में अहमिन्द्र हुए, वहाँ से आकर अरनाथ तीर्थंकर हुए हैं। इनका मत्स्य का चिन्ह था।

इन अरनाथ ने भी गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान इन चारों कल्याणकों को हस्तिनापुर नगर में ही प्राप्त किया है। इनको मुक्त हुए लगभग सौ अरब, पैंसठ लाख, छ्यासी हजार पाँच सौ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। ये अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ भगवान सदा हम सब की रक्षा करें।

प्रवचन–24

रक्षाबंधन पर्व

धर्मप्रेमी महानुभावों! प्राचीनकाल से भारत की इस पावन वसुन्धरा पर अनेकों पर्व मनाने की परम्परा चली आ रही है। उन पर्वों में रक्षाबंधन पर्व भी अपने में विशेष महत्व रखता है और मात्र जैनियों का ही नहीं वरन् राष्ट्रीय पर्व माना जाता है। इस पर्व की उत्पत्ति ऐतिहासिक तीर्थक्षेत्र हस्तिनापुर से प्रारंभ हुई है। यहाँ पर राजा बलि द्वारा 700 मुनियों पर घोर उपसर्ग किया गया और उसके निवारण के लिए विष्णु कुमार महामुनि ने अपनी विक्रियाऋद्धि का प्रयोग किया था। इसी श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को अकम्पनाचार्य आदि 700 मुनियों के प्राणों की रक्षा हुई और उन्हें अत्यन्त मृदु खीर का आहार दिया गया। इसकी कथा इस प्रकार है–

हस्तिनापुर के राजा महापद्म अपने बड़े पुत्र पद्मराज को राज्य देकर छोटे पुत्र विष्णुकुमार के पास मुनि हो गये। राजा पद्म के चार मंत्री थे– बलि, बृहस्पति, नमुचि और प्रहलाद। किसी समय उन्होंने शत्रु राजा को जीतकर राजा पद्म से 'वर' प्राप्त किया था और उसे धरोहररूप में राजा के पास रख दिया था। एक समय अकम्पनाचार्य सात सौ मुनियोंके साथ आकर वहाँ बगीचे में ठहर गये। जिनधर्म के विद्वेषी मंत्रियों ने राजा से मौका देखकर वर के रूप में सात दिन का राज्य मांग लिया। राजा को वर देना पड़ा। फिर क्या था, इन दुष्टों ने मुनियों को चारों तरफ से घेर कर बाहर से यज्ञ का बहाना कर आग लगा दी।

उधर मिथिलानगरी में रात्रि में श्रवण नक्षत्र कंपित होते देख श्रुतसागर आचार्य के मुख से हाहाकार शब्द निकला। पास में बैठे हुए क्षुल्लक जी ने सारी बात पूछी और उपसर्ग दूर होने का उपाय समझकर धरणीभूषण पर्वत पर आए और वहाँ विष्णुकुमार मुनि से कहा– भगवन्! आपको विक्रियाऋद्धि है अतः आप शीघ्र ही जाकर उपसर्ग दूर कीजिए।

मुनि विष्णुकुमार वहाँ आए और राजा पद्म से (भाई से) सारी बातें अवगत कर मुनिवेष छोड़कर बलि के पास वामन का रूप लेकर पहुँचे, जहाँ बलि राजा दान दे रहा था। बलि ने इनसे भी कुछ मांगने को कहा। वामन ने कहा– मुझे तीन पैर धरती दे दो। उसने कहा– आप अपने पैरों से ही नाप लें। बस! वामन विष्णुकुमार ने अपनी विक्रिया से एक पैर सुमेरुपर्वत पर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर रखा। तीसरा पैर उठाया किन्तु उसके रखनेको जगह ही नहीं थी। इतने में सर्वत्र हाहाकार मच गया, पृथ्वी कांप गई, देवों के विमान परस्पर में टकराने लग गये। चारों तरफ से क्षमा करो, क्षमा करो ऐसी आवाजें आने लगीं।

देवों ने आकर बलि को बांधकर विष्णुकुमार मुनि की पूजा की और सात सौ मुनियों पर आया उपसर्ग दूर किया। विष्णुकुमार मुनि ने मुनियों के प्रति वात्सल्य करके उनका उपकार किया। अन्त में जाकर प्रायश्चित्त आदि लेकर अपनी आत्मा का कल्याण करलिया। उसी दिन से रक्षा की स्मृति में यह दिवस रक्षाबंधन पर्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस यह

भगवान मल्लिनाथ के समय की बात है जिसे आज 65 लाख 522 वर्ष हो गये हैं।

वैसे वर्तमान में भाइयों द्वारा बहिन की रक्षा के प्रतीक के रूप में यह पर्व मनाया जा रहा है इसीलिए बहनें भाइयों के हाथ में रक्षासूत्र बांधकर मानो इस बात की प्रतिज्ञा भाइयों को देती हैं कि हमारी रक्षा का भार आपके हाथ में है।

लेकिन वास्तव में रक्षाबंधन पर्व बड़े गूढ़रहस्य को संजोये हुए है केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि बहनें अपने भाइयों के हाथ में पंचरंगी रेशमसूत्र की डोरी बांध दें और भाई उन्हें रुपया-पैसा या अन्य इच्छित वस्तु प्रदान करके आमोद-प्रमोदपूर्वक पर्व मना लें।

आज समय बदल चुका है, कलिकाल है, हममें से हर एक को बदलना होगा तथा हर व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य पालन करने की, अपने धर्म, धर्मायतन की रक्षा करने की शपथ लेनी होगी मात्र रक्षासूत्र बांधने या गिफ्ट दे देने से काम नहीं चलेगा। हमें अपनी संस्कृति की रक्षा हेतु आह्वान उठाना होगा और जन-जन को जैनधर्म एवं भारतीय संस्कृति से परिचित कराना होगा। भगवान महावीर को मोक्ष गये हुए आज 2534 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, लेकिन वास्तविक स्थिति यह है कि आज देश में, समाज में, घर-घर में अनेक कुतत्वों के प्रवेश से वातावरण दूषित होता जा रहा है। हर व्यक्ति अपने पथ से विमुख हो रहा है। व्यापारीअपने व्यापार के मूल सत्य सिद्धान्तों को विस्मरण करता जा रहा है। विद्यार्थी अपने लक्ष्य विद्याध्ययन से हटकर तोड़-फोड़ हड़ताली प्रवृत्ति में आनंद ले रहा है। सदाचरण अनाचरण में परिवर्तित होता जा रहा है। तो आइए! सर्वप्रथम हम सब आज इस बात की प्रतिज्ञा करें कि भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामीपर्यंत चौबीसों तीर्थंकरों द्वारा बताए हुए मूलभूत सिद्धान्त– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालनकर समाज में, देश में, घर-घर में सुख-शांति की स्थापना करेंगे, तभी हम महावीर के सच्चे अनुयायी कहे जा सकेंगे। आज पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से जैनधर्म को मात्र 2500 वर्ष पुरानाघोषित किया जा रहा है। नर्सरी से लेकर आई.ए.एस., पी.सी.एस. की क्लासों में भी यही पढ़ाया जाता है कि जैनधर्म के संस्थापक महावीर स्वामी हैं और चूँकि बच्चे कच्चे घड़े के समान हैं जैसे उनको ढाला जाएगा वैसे ही परिपक्व होकर वे आगे की पीढ़ी का मार्गदर्शन करेंगे इसीलिए भी उनके लिए यह सब जानना अत्यन्त आवश्यक है।

''जियो और जीने दो'' के अमर सिद्धान्त को मानव भूल चुका है। आज समाजों में मांस, अण्डा, शराब एवं अभक्ष्य पदार्थों के सेवन की निरन्तर बढ़ती हुई प्रवृत्ति को देखकर दुःख होता है। हम सबको त्याग एवं अहिंसक वृत्ति अपनाने की शपथ लेनी होगी, पग-पग पर झूठ बोलकर सत्य का गला घोंटने की प्रवृत्ति छोड़नी होगी, आचार्य उमास्वामी के सूत्र 'अदत्तादानं अस्तेंय' को जीवन में लाना होगा। स्त्रियाँ सती सीता जैसी चरित्रनिष्ठ एवं पातिव्रत्य धर्मपालन करने की प्रतिज्ञा करें। पुरुषवर्ग सेठ सुदर्शन जैसे चारित्रवान बनने की प्रतिज्ञा करें, विद्वान शास्त्रों की रक्षा करें, ऐतिहासिक स्थलों,प्राचीन मंदिरों, अतिशय क्षेत्र व सिद्ध क्षेत्रों की रक्षा हेतु जन-जन की भावना को जीवन में अपनावें, तभी वात्सल्य एवं सहिष्णुता के प्रतीक रक्षाबंधन महापर्व के मनाने की सार्थकता है।

प्रवचन–25

द्रौपदी पंचभर्तारी नहीं थी

भव्यात्माओं! माकंदी के राजा द्रुपद की पुत्री का नाम द्रौपदी था। जब वह नवयौवना हुई तब राजा ने उसके विवाह के लिए स्वयंवर का निर्णय लिया। उस स्वयंवर में कन्या ने अर्जुन को वरण किया। वैदिक सम्प्रदाय में कुछ लोग द्रौपदी को पंचभर्तारी मनते हैं और सती भी कहते हैं, यह बड़े आश्चर्य की बात है। जैन महाभारत (हरिवंशपुराण) में क्या लिखा है? वह प्रकरण मैं आपको बताती हूँ। जैन श्रावक-श्राविकाओं को यथार्थ जानवारी रखनी चाहिए और बालक-बालिकाओं को भी यह प्रकरण सुनाकर सही बोध देना चाहिए।

हरिवंशपुराण सर्ग 45 में पेज 547 पर यह प्रकरण आया है कि–

उस समय यह घोषणा की गई कि 'जो अत्यन्त भयंकर गाण्डीव धनुष को गोल करने एवं राधावेध (चन्द्रकवेध) में समर्थ होगा वही द्रौपदी का पति होगा।' इस घोषणा को सुनकर वहाँ जो द्रोण तथा कर्ण आदि राजा आये थे वे सब गोलाकार हो धनुष के चारों ओर खड़े हो गये। परन्तु सती स्त्री के समान देवों से अधिष्ठित उस धनुष-यष्टिका को देखना भी उनके लिए अशक्त था, फिर छूना और खींचना तो दूर रहा।

तदनन्तर जब सब परास्त हो गये तब द्रौपदी के होनहार पति एवं सदा सरल प्रकृति को धारण करने वाले अर्जुन ने उस धनुष-यष्टि को देखकर तथा छूकर ऐसा खींचा कि वह सती स्त्री के समान इनके वशीभूत हो गयी। जब अर्जुन ने खींचकर उस पर डोरी चढ़ायी और उसका आस्फालन किया तो उसके प्रचण्ड शब्द में कर्ण आदि राजाओं के नेत्र फिर गये तथा कान बहरे हो गये। तीक्ष्ण आकृति के धारक पार्थ को देखकर कर्ण आदि के मन में यह तर्क उत्पन्न हुआ कि क्या स्वाभाविक ऐश्वर्य को धारण करने वाला अर्जुन अपने भाइयों के साथ मरकर यहाँ पुनः उत्पन्न हुआ है? अर्जुन के सिवाय अन्य सामान्य धनुर्धारी का ऐसा खड़ा होना कहाँ संभव है? अहा! इसकी दृष्टि, इसकी मुट्ठी और इसकी चतुराई सभी आश्चर्यकारी हैं। उधर राजा लोग ऐसा विचार कर रहे थे इधर अत्यन्त चतुर अर्जुन डोरी पर बाण रख झट से चलते हुए चक्र पर चढ़ गया और राजाओं के देखते-देखते उसने शीघ्र ही चन्द्रकवेध नाम का लक्ष्य बेध दिया। उसी समय द्रौपदी ने शीघ्र ही आकर वर की इच्छा से अर्जुन की झुकी हुई सुन्दर ग्रीवा में अपने दोनों कर-कमलों से माला डाल दी। उस समय जोरदार वायु चल रही थी इसलिए वह माला टूटकर साथ खड़े हुए पाँचों पाण्डवों के शरीर पर जा पड़ी। इसलिए विवेकहीन किसी चपल मनुष्य ने जोर-जोर से यह वचन कहना शुरू कर दिया कि इसने पाँच कुमारों को वरा है। जिस प्रकार किसी सुगंधित, ऊँचे एवं फलों से युक्त वृक्ष पर लिपटी फूली लता सुशोभित होती है उसी प्रकार अर्जुन के समीप खड़ी द्रौपदी सुशोभित हो रही थी। तदनन्तर कुशल अर्जुन नूपुरों के निश्चल बंधन से युक्त उस द्रौपदी को अनीतिज्ञ

राजाओं के आगे से उनके देखते-देखते माता कुन्ती के पास ले चला। युद्ध करने के लिए उत्सुक राजाओं को यद्यपि नीति चतुर राजा द्रुपद ने रोका था तथापि कितने ही राजा जबरदस्ती अर्जुन के पीछे लग गये। परन्तु अर्जुन, भीम और धृष्टद्युम्न इन तीनों धनुर्धारियों ने उन्हें दूर से ही रोक दिया। ऐसा रोका कि आगे न पीछे कहीं एक डग भी रखने के लिए समर्थ नहीं हो सके।

तदनन्तर धृष्टद्युम्न के रथ पर आरूढ़ अर्जुन ने अपने नाम से चिन्हित एवं समस्त संबंधों को सूचित करने वाला बाण द्रोणाचार्य की गोद में फेंका। द्रोण, अश्वत्थामा, भीष्म और विदुर ने जब समस्त संबंधों को सूचित करने वाले उस बाण को बांचा तो उसने सबको परम हर्ष प्रदान किया। पाण्डवों का समागम होने पर राजा द्रुपद, कुटुम्बीजन तथा द्रोणाचार्य आदि को जो महान सुख उत्पन्न हुआ था, उससे शंख और बाजों के शब्द होने लगे। परम आनन्द को देने वाले भाइयों के इस समागम पर दुर्योधन आदि ने भी ऊपरी स्नेह दिखाया और पाँचों पाण्डवों का अभिनंदन किया। जिस प्रकार स्नेह–तेल के समूह से भारी दीपिका किसी के पाणिग्रहण–हाथ में धारण करने से अत्यधिक देदीप्यमान होने लगती है उसी प्रकार स्नेह–प्रेम के भार से भरी द्रौपदी, पाणिग्रहण–विवाह के योग से अर्जुन के द्वारा धारण की हुई अत्यधिक देदीप्यमान होने लगी। राजा लोग द्रौपदी और अर्जुन का मंगल विवाह देखकर अपने-अपने स्थान पर चले गये और दुर्योधन भी पाण्डवों को साथ ले हस्तिनापुर पहुँच गया। दुर्योधनादि सौ भाई और पाण्डव आधे-आधे राज्य का विभाग कर पुनः पूर्व की भांति रहने लगे। उज्ज्वल चारित्र के धारक युधिष्ठिर तथा भीमसेन ने पहले अज्ञातवास के समय अपने-अपने योग्य जिन कन्याओं को स्वीकृत करने का आश्वासन दिया था उन्हें बुलाकर तथा उनके साथ विवाह कर उन्हें सुखी किया। द्रौपदी अर्जुन की स्त्री थी, उसमें युधिष्ठिर और भीम की बहू जैसी बुद्धि थी और सहदेव तथा नकुल उसे माता के समान मानते थे।

द्रौपदी की भी पाण्डु के समान युधिष्ठिर और भीम में श्वसुर बुद्धि थी और सहदेव तथा नकुल इन दोनों देवरों में अर्जुन के प्रेम के अनुरूप उचित बुद्धि थी। गौतम स्वामी कहते हैं कि जो अत्यन्त शुद्ध आचार के धारक मनुष्यों की निंदा करने में तत्पर रहते हैं उनके उस निंदा से उत्पन्न हुए पाप का निवारण करने के लिए कौन समर्थ है? दूसरे के विद्यमान दोष का कथन करना भी पाप का कारण है फिर अविद्यमान दोष के कथन करने की तो बात ही क्या है? वह तो ऐसे पाप का कारण होता है जिसका फल कभी व्यर्थ नहीं जाता–अवश्य ही भोगना पड़ता है। साधारण से साधारण मनुष्यों में प्रीति के कारण यदि समानधनता होती है तो धन के विषय में होती है स्त्रियों में नहीं होती। फिर जो तीनों लोकों में प्रसिद्ध हैं उनकी तो बात ही क्या है?

इस प्रकार सद्बुद्धि से पुण्यरूप कथाओं का सुनना वक्ता और श्रोता के लिए कल्याण का कारण माना गया है तथा पापरूप कथाओं का सुनना उनके लिए अकल्याण का कारण माना गया है अतः आप सभी को पापरूप कथाओं को सुनने का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।